श्रीशंकराचार्य-वाक्सुधा

(प्रथम भाग)

—अद्वैतानन्द सरस्वती

श्रीशंकराचार्य—वाक्सुधा

(प्रथम भाग)

अर्थात्

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज के उपदेश और संक्षिप्त जीवनचरित्र

—अद्वैतानन्द सरस्वती

प्रकाशक—

मिश्र-बन्धु-कार्यालय,

जबलपुर

सङ्कलन-कर्ता—

श्री १०८ दण्डी स्वामी अद्वैतानन्द सरस्वतीजी महाराज
की प्रेरणा से श्रीमहेशप्रसादजी द्वारा
सङ्कलित तथा सम्पादित

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ; वि० २००४

मुद्रक—

नर्मदा प्रिंटिंग प्रेस,

जबलपुर

परमार्थदीप, श्रीज्योतिर्मय आचार्यचरण शङ्कर के बोल।
कलिमलहर कल्याणी प्रस्तुत वाक्सुधाधारा अनमोल ॥

समर्पण

जिनकी चरण-रज के प्रसाद से यह लेखनी उठी, जिनकी एक दृष्टि पर अस्मद् जीवों का अभ्युदय और निःश्रेयस हस्तामलक-सा अनुभूत हुआ है, जिन सद्गुरु प्रभु की उपमा में सातिशय साकार ब्रह्मा-विष्णु-महेश और निरतिशय निराकार परब्रह्म का उपब्रह्मण होता है एवं जिन श्रीचरणों के स्वरूप-लक्षण में कवि-कोविदों ने कहा है—

मायावादनिराशराशिशरणं सत्कारणाधीश्वरम् ।
सद्गुण्याद्यखिलप्रभावविभवं वेदैकवेद्य विभुम् ।
ब्रह्मानन्दकदम्बपुष्पलसितं श्रीशङ्कराचार्यकम् ।
याचेऽहं सततं शरण्यममलं मुक्त्यैककल्पद्रुमम् ॥

और जिनके वाक्सुधा-लहरी में निमग्न हो यह लेखनी कृतकृत्य हुई है, उन्हीं श्रीभगवान् के अतुलित पाद-पद्मों की सुमनोहर झाँकी के प्रथम द्वार पर यह प्रथम-प्रयास-पुष्प चढ़ाने हेतु भारती आतुर हो उठी है।

प्रभो !

इसे स्वीकार करें ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

आपकी कृपा-कोर से इससे प्रादुर्भूत अरुणलालिमा की सुमनोहर रक्तकुंकुम रश्मियों से देदीप्यमान पथ की दिव्य-प्रभा हमारे साधन-विहीन, भक्तिहीन, अज्ञान-गाढ़ान्ध-तमोपहित हृदयों को आलोकित कर चिरन्तन ज्योति प्रदान करेगी ।

नर्मदातट, जबलपुर;
श्रीगुरु-पूर्णिमा
सं० २००४

किङ्कर,
महेशप्रसाद ।

अनुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ
१—प्रार्थना	...	...	६
२—प्राक्कथन	...	...	११
३—श्रीशंकराचार्य-वाक्सुधा	...	...	६१
४—कल्याण-पथ	...	...	६६
५—वास्तविक विजय	...	...	७१
६—वासनाध्वंसो मोक्षः	...	...	७६
७—वासनाध्वंस कैसे हो ?	....	...	७९
८—कर्मयोगी कैसे बने ?	...	...	८२
९—यौगिक सफलता की कुञ्जी	...	...	८६
१०—शासन-सत्ता पर धर्म-रक्षा का गुरुतर भार है		...	९०
११—भगवान् भाष्यकार की स्मृति में		...	९२
१२—व्यापक तत्त्व	...	...	९३
त्रैलोक्य का स्वामित्व	...	...	९४
१३—भगवान् निराकार हैं कि साकार ?		...	९६
१४—व्यापक निराकार में व्याप्य साकार		...	९७
१५—व्यवहार और परमार्थ दोनों कैसे सधें ?		...	९८
१६—स्वत्त्व-विसर्जन	...	...	९९
१७—तन, मन और धन का सदुपयोग		...	१०३

विषय		पृष्ठ
१८—सुख-शांति कैसे मिले ? ...	...	१०६
१९—देवालयों की अव्यवस्था से दैवी प्रकोप	...	१०८
२०—स्थायी संघठन का आधार—इष्ट की व्यापकत्वानुभूति	...	११२
२१—पोषक विश्वम्भर है ...	...	११४
२२—सदा भगवान् की गोद में हो	...	११६
२३—धर्मो रक्षति रक्षितः ...	...	११७
२४—जब से चेते तब से सही ...	...	१२१
२५—तत्त्व-प्राप्ति में आहार-शुद्धि	...	१२४
२६—विषयी का संग विषय से अधिक भयावह है	...	१२७
२७—सत्संग की आवश्यकता ...	...	१२९
२८—दैवी और आसुरी प्रवृत्ति ...	...	१३२

अनन्त-श्री-विभूषित जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य
स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराज,
ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम ।

प्रार्थना

वन्देऽहं यतिराजराजरमणं योगीन्द्रचक्रायुधं,
चातुर्वर्ग्य-फलप्रदं सुविहितं मोक्षच्छटाच्छादितम् ।
योगानन्दतरंगतानतननं त्रैलोक्यनाथं शिवं,
ब्रह्मानन्दसरस्वतीं गुरुवरं ज्योतिर्मठाधीश्वरम् ॥१॥

साक्षाद्ब्रह्मपदारविन्दयुगलं पैशल्यकल्लोलकं,
नैष्कर्म्याद्यखिलेश्वरं कृतिमता मानन्दधारान्वितम् ।
ध्यानज्योतिरखण्डखण्डवरणैरद्वैतमानन्त्यकं,
ज्योतिष्पीठमहेश्वरं गुरुवरं प्रत्यक्षदेवं भजे ॥२॥

सर्वानन्दकरं महाप्रभुवरं साक्षाच्छिवं सात्विकं,
लोकानामुपकारकं निगमतो मार्गप्रमोदीपकम् ।
शान्तं दान्तमपीह सर्वजगतां तापत्रयोन्मूलनं,
वन्दे तं गुरुदेवदेवसदनं ज्योतिर्मठाधीश्वरम् ॥३॥

शास्त्रे साधुकथासुधा सुललिता कैवल्यनैर्गुण्यिका,
सर्वानन्दकरी सुरत्नरसनालावण्यलीलाम्बुधिः ।
राराजीति विशिष्टभावगहना यस्य प्रसादाद्भुवि,
ब्रह्मानन्दसरस्वतीं गुरुवरं प्रत्यक्षदेवं भजे ॥४॥

यद्द्वारे निखिला निलिम्पपरिषत्सिद्धिं विधत्तेनिशं,
श्रीमच्छ्रीलसितं जगद्गुरुपदं नत्वात्मतृप्तिं गताः।
लोकाज्ञानपयोदपाटनधुरं श्रीशङ्करं शर्मदं,
ब्रह्मानन्दसरस्वतीं प्रभुवरं ध्यायामि ज्योतिर्मयम् ॥५॥

प्राक्कथन

धर्म-सम्राट् श्रीशंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराज के शब्दों में ओज है, तेज है, आकर्षण है, गम्भीरता है, सरलता है, सरसता है, शब्द-ब्रह्म के अपनेपन का अनोखापन है; जिसने सुना है वह सुनते ही रहना चाहता है। इनमें सुधा की सरसता है; उद्गीथ गायन का अद्वितीय प्रभाव और निरालापन है। इनमें सुख है, शिशिर की कड़कड़ाहट में बह्नि के सान्निध्य का सुख है। इनमें वाग्माता भगवती सरस्वती के पुनीत वीणा से झंकृत हुई दैवी झंकार की मंजुल ध्वनि है। इनमें अविद्या के अज्ञान-तिमिर को शीघ्र भेदन करनेवाला शुभ्र ज्ञान का पवित्र ज्योतिःपुञ्ज है। इनमें संसार के त्रिविध ताप की प्रोज्ज्वलित दावानल की प्रचण्ड ज्वालाओं में सतत जल रहे जीवों के लिए शीतल जल की बरसती हुई महामेघ-माला है। इनकी उत्ताल तरंगें मानव-विकास की उच्चतम सीमा के ऊपर उठकर उस पार का पता दे चुकी हैं। इनका माधुर्य भारती के कितने सरस रसों को अपने पसंगे में तौल चुका है। इनकी महानता पर्वतराज के महत्तम उत्तुङ्ग शिखरों का मान मर्दन कर चुकी है।

इनमें पुष्टि है; मानव! अपनी चिरसाध मिटा ले, समय है अपनी चिरप्यास बुझाने का। इनमें महासमुद्र की अमृतमय वह अगाध जल-राशि है जिसका कण-कण करोड़ों की चिरप्यास बुझा चुका है। इनमें प्रकाश है, प्रकाश की शुभ्रतम रम्य नीलिमा की वह मनोहर दिव्य प्रभा है जिसकी एक-एक झलक में भूतल के कितने ही सूर्यों का विकसित तेज फीका पड़ चुका है। इनमें सविकल्प और निर्विकल्प के बीच

ऋतम्भरा द्वारा झंकृत किये गये विशुद्ध हृदय के उन सुकोमल पद्मदलों की सरस झंकार है जिनकी लहर-लहर से अनाहत अपने लहरी स्वर का मेल मिलाता है। इनके कीर्ति-चन्द्र का सौन्दर्य अद्वितीय है—जगतीतल इसे सँभालकर अपने में रखना चाहता है, आकाश इसे ऊपर उठाकर इसकी परम शीतल रश्मियों का प्रसारकर दिन में दिनमणि के ताप से विश्व को बचाना चाहता है और वायु इसकी कान्ति-सुरभि को अपने में व्याप्त कर सौरभवान हुआ चाहता है।

सीमित है वाणी की सीमा, नहीं पहुँच पाती इनकी निस्सीम परिधि तक; नहीं अपने में बाँध पाता शब्द-जाल इनके निर्बाध विषय की यथार्थ भूमिका। अरे, इनका उद्गम समस्त विश्व-विस्तार का उद्गम-केन्द्र है—उठा था जिस पुनीत केन्द्र से 'एकोऽहं बहुस्याम्' का अद्भुत नाद निकल रहा है सत्य ही वहीं से इनका भी दिव्य स्त्रोत—है इनमें निःसंदेह 'अस्ति' का सम्पूर्ण विस्तृत क्षेत्र और नहीं 'नास्ति' का अस्तित्व। भारती! तेरी महिमा अगाध है; किन्तु इनकी गम्भीरता के सामने वह उथली ही प्रतीत होती है; इसलिए ठहर, बौना चन्द्र को हस्तगत करने का प्रयास न करे, तू इससे अधिक कह ही क्या सकती है कि महाराज जगद्गुरु के वचनामृत में श्रोता के अधिकारानुसार विषय और शब्दावली का अद्भुत प्रदर्शन होता है।

कितने ही बार देखा गया कि प्रश्न वही, किन्तु प्रश्नकर्त्ता की योग्यता एवं अधिकार-भेद से समाधान भिन्न-भिन्न हुआ—संन्यासियों के मोक्ष-परक प्रश्न में अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त-निरूपण; विरक्त मुमुक्षु साधकों के उसी प्रश्न पर वेदान्ताधिकार प्राप्त करने के लिए साधन-चतुष्टय का स्पष्टीकरण और त्याग-वैराग्य का माहात्म्य-पूर्ण दिग्दर्शन तथा गृहस्थ भक्त उपासकों

को उसी मुक्ति के प्रश्न पर श्रीभगवान् की अहेतुकी भक्ति का उपदेश और व्यवहार में निष्काम कर्मयोग की उपादेयता का परिज्ञान कराना, यही श्रीमत्प्रभु के सदुपदेशों की विशेषता है।

श्रीमुख से प्रादुर्भूत शब्दावली भी विषय के अनुकूल श्रोता के अधिकारानुसार ही होती है—विद्वान पण्डितों के समक्ष शास्त्रीय (क्लिष्ट) भाषा-प्रयोग एवं शास्त्रीय उदाहरणों द्वारा विषय का उद्बोधन; तथा साधारण पढ़ी-लिखी शास्त्रान-भिज्ञ जनता के लिए अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में, नित्यप्रति व्यवहार में आनेवाले उदाहरणों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण नित्य ही श्रीचरणों के उपदेशों में अनुभव किया जाता है।

श्रीचरण का इस सम्बन्ध में यह कथन सुना गया है कि जिस प्रकार एक शिष्ट के सामने आने पर 'आप' और एक बालक के सामने आने पर 'तुम' शब्द से सम्बोधन करना स्वाभाविक है, उसी प्रकार विद्वान और साधारण पुरुष से सम्भाषण करने के लिए तदनुकूल विषय और वाक्य-योजना स्वाभाविक ही निकलती है, इसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, यह नहीं विचारना पड़ता कि ये विद्वान हैं, इससे इनके लिए शास्त्रीय भाषा का प्रयोग करें और ये कम पढ़े-लिखे हैं, इनसे साधारण भाषा बोलें।

श्रोता का अधिकार और उपदेश की प्रक्रिया के सम्बन्ध में श्रीमत्प्रभु का यह उपदेश सुना गया है कि महात्माओं का हृदय अगाध जलाशय के समान होता है, जिसमें भगवद्-विषयिणी-वृत्ति-रूपी जल शान्त, स्तब्ध भरा रहता है। जिसे यह जल अपने अन्तःकरण-रूपी खेत में ले जाना हो वह सत्संग रूपी कुल्ली (नाली) बनाकर ले जा सकता है। जिसकी कुल्ली जितनी स्वच्छ और गहरी होगी उतना ही अधिक जल

को उसी मुक्ति के प्रश्न पर श्रीभगवान् की अहेतुकी भक्ति का उपदेश और व्यवहार में निष्काम कर्मयोग की उपादेयता का परिज्ञान कराना, यही श्रीमत्प्रभु के सदुपदेशों की विशेषता है।

श्रीमुख से प्रादुर्भूत शब्दावली भी विषय के अनुकूल श्रोता के अधिकारानुसार ही होती है—विद्वान पण्डितों के समक्ष शास्त्रीय (क्लिष्ट) भाषा-प्रयोग एवं शास्त्रीय उदाहरणों द्वारा विषय का उद्बोधन; तथा साधारण पढ़ी-लिखी शास्त्रान-भिज्ञ जनता के लिए अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में, नित्यप्रति व्यवहार में आनेवाले उदाहरणों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण नित्य ही श्रीचरणों के उपदेशों में अनुभव किया जाता है।

श्रीचरण का इस सम्बन्ध में यह कथन सुना गया है कि जिस प्रकार एक शिष्ट के सामने आने पर 'आप' और एक बालक के सामने आने पर 'तुम' शब्द से सम्बोधन करना स्वाभाविक है, उसी प्रकार विद्वान और साधारण पुरुष से सम्भाषण करने के लिए तदनुकूल विषय और वाक्य-योजना स्वाभाविक ही निकलती है, इसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, यह नहीं विचारना पड़ता कि ये विद्वान हैं, इससे इनके लिए शास्त्रीय भाषा का प्रयोग करें और ये कम पढ़े-लिखे हैं, इनसे साधारण भाषा बोलें।

श्रोता का अधिकार और उपदेश की प्रक्रिया के सम्बन्ध में श्रीमत्प्रभु का यह उपदेश सुना गया है कि महात्माओं का हृदय अगाध जलाशय के समान होता है, जिसमें भगवद्-विषयिणी-वृत्ति-रूपी जल शान्त, स्तब्ध भरा रहता है। जिसे यह जल अपने अन्तःकरण-रूपी खेत में ले जाना हो वह सत्संग रूपी कुल्ली (नाली) बनाकर ले जा सकता है। जिसकी कुल्ली जितनी स्वच्छ और गहरी होगी उतना ही अधिक जल

वह ले जा सकेगा। स्वयं जल न तो कहीं जाने की इच्छा करता है और न कहीं न जाने की। वह तो ले जानेवाले के अधीन रहता है। इसी प्रकार महात्माओं का चित्त शान्त एवं स्तब्ध रहता है। उन्हें न तो किसीको उपदेश करने की इच्छा होती है और न उपदेश न करने की ही। जिज्ञासु के उपस्थित होने पर उसके अधिकारानुसार उपदेश स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

श्रीमुख से यह भी सुना गया है कि महात्माओं का अन्तःकरण हीरे का काँटा होता है, उसमें थोड़ा भी बल स्पष्ट अंकित हो जाता है। जिज्ञासु कितने अधिकार का, किस श्रेणी का है, इस सम्बन्ध में उन्हें भ्रम नहीं हो सकता।

अपनी भावनाओं और अन्तःकरण की पवित्रता के अनुसार ही लोग महात्माओं से लाभ उठा सकते हैं। इसी भाव को महात्मा तुलसीदासजी ने यह कहकर व्यक्त किया है कि "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी"। प्रभु—परमेश्वर—और उनसे अभिन्न हृदय रखनेवाले उनके प्रिय—महात्माओं के लिए यह उक्ति समान ही चरितार्थ होती है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' का सिद्धान्त भी ठीक इसी प्रकार घटता है।

अपने मन से स्वतः श्रीचरण बहुत ही कम उपदेश करते हैं। श्रीमुख से वचनामृत पान करने की उत्कण्ठा जब दर्शनार्थियों में विशेष होती है, तब कोई कुछ प्रसंग छेड़ देता है अथवा कोई कुछ प्रश्न कर देता है, तब उसीके समाधान में उपदेश हो जाता है। इस प्रकार हठात् श्रीमुख से कुछ श्रवण करने के लिए जब प्रश्न छेड़े जाते हैं, तब उनका समाधान करते हुए, कभी-कभी श्रीमत्प्रभु यह भी कह देते हैं कि वृक्ष से फल खाने के दो प्रकार हैं। एक तो प्रतीक्षा करो कि फल जब स्वतः

पक होगा तब अपने आप गिरेगा; उस समय खायेंगे। दूसरा, यदि उतना धैर्य न हो तो डंडा या पत्थर मारो कि गिर पड़े। महात्माओं से प्रश्न करना तो डंडे से फल का गिराना है। डंडा लगाने पर फल तो टूटकर गिरेगा ही, किन्तु स्वतः जो फल पक्व होकर वृक्ष से गिरता है उसकी बराबरी डंडे से गिराया हुआ फल नहीं कर सकता। स्वतः पक्व होकर फल का गिरना यह है कि महात्माओं के पास आते-जाते रहो। किसी समय तुम्हारी ओर उनकी वृत्ति चली जायगी और उस समय तुम्हारे अधिकारानुसार जो उपदेश होगा वह तुम्हारे लिए अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। पुस्तकों से इधर-उधर पढ़कर या किसीसे कुछ सुनकर प्रश्न बना लेने से प्रश्न का समाधान तो हो ही जाता है; पर वह असमय में डंडे से झोरे हुए फल के समान अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं होता। परन्तु, यदि उतना धैर्य न हो अथवा उतना अवकाश न हो या शंकाओं के कारण विशेष उद्विग्नता हो रही हो तो उनका निराकरण कर लेना ही उत्तम रहता है। आम यदि कच्चा ही डंडे से गिरा लिया जाय तो भी कम-से-कम चटनी का काम तो दे ही देता है।

जब कभी बिना प्रश्न किये ही श्रीचरण स्वत: उपदेश करते हैं तब तो उस उपदेश में अनेकों श्रोताओं की अपृष्ट, मानसिक शंकाओं का समाधान हो जाता है और उपदेश के अन्त में बाहर आकर लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि आज अमुक शंका मन में उठी थी उसका समाधान यहाँ हो गया; कोई कहते हैं कि आज यह सोचकर घर से चले थे उसका उत्तर बिना पूछे ही मिल गया। इस प्रकार के अनुभव प्रायः श्रोताओं को हुआ ही करते हैं। इसका आन्तरिक रहस्य पाठकों को इस पुस्तक में दिये हुए 'व्यापक तत्त्व" और "त्रैलोक्य का स्वामित्व" इन उपदेशों से स्पष्ट हो जायगा।

सफल भक्त, महात्माओं और सिद्ध योगियों की वृत्ति व्यवहार में रहते हुए भी निरवच्छिन्न तैल-धारा-वत व्यापक अद्वैत तत्त्व में निमग्न रहने के कारण, जो वस्तु उनके सम्मुख आती है उसके गुण-रूप से उसमें विद्यमान व्यापक अद्वैत तत्त्व के साथ महात्माओं के अन्तःकरण की अद्वैत तत्त्वावगाहनी वृत्ति की स्वाभाविक एकरूपता होने से उस वस्तु के गुण का महात्मा के अन्तःकरण के साथ अभेद हो जाता है। इसी कारण जो भावना लेकर मनुष्य महात्माओं के सम्मुख उपस्थित होते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप महात्माओं के अन्तःकरण में स्पष्ट अंकित हो जाता है और तदनुकूल ही उनका उपदेश होता है। इसी बात को दूसरे उदाहरण द्वारा सुस्पष्ट किया जा सकता है कि महात्माओं का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल दर्पण के समान होता है। उसके अन्दर उसका स्वतः का कोई रूप नहीं होता। वह स्वतः निर्विकार स्वरूप ही होता है। जो वस्तु जैसी उसके सामने आती है वैसाही उसके अन्दर स्वरूप अंकित हो जाता है। संक्षेप में यही सिद्ध महात्माओं के अन्तर्यामित्व का रहस्य है।

इस पुस्तक में पाठक जिन पूज्य चरणों के उपदेशामृत का पान करने जा रहे हैं, उनके चिन्मय दैवी व्यक्तित्व की महानता और अपनी सीमित मानवीय बुद्धि की अल्पशक्तिमत्ता का स्मरण कर उनके व्यक्तित्व-चित्रण के सम्बन्ध में मैं मौन रह जाना ही श्रेयस्कर मानता हूँ। किन्तु, कुछ श्रद्धालु भक्तों का यह आग्रह हो रहा है कि इस सम्बन्ध में सर्वथा मौन रहना पाठकों को अँधेरे में छोड़ देना होगा; क्योंकि जिनके दैनिक उपदेशामृत का पान कर मनुष्य अपना कल्याण-पथ निर्धारित कर, सुख-शान्ति की प्राप्ति कर सकता है, उनके स्वयं जीवन का आदर्श कहीं अधिक सुगमता से हमारे लिए पथ-प्रदर्शक हो

सकता है; अतएव इन समीपस्थ पवित्र आत्माओं के विशेष आग्रह पर सरस्वती-स्मरणपूर्वक इस ओर भी कुछ प्रयत्न करता हूँ।

श्रीचरण के अभी तक के सम्पूर्ण जीवन पर एक हल्की-सी दृष्टि डालकर स्थूल रूप से, संक्षेप में उनके जीवन-सिद्धान्त का खाका खींचना ही इस समय मेरा लक्ष्य है।

परमादरणीय भगवत्पूज्यपाद अनन्त-श्री-समलंकृत स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराज के हाथ में आज सनातन धर्म की बागडोर है। उत्तर-भारत की उच्चतम धर्मपीठ-ज्योतिष्पीठ का अधीश्वरत्व आपके ही महान् दैवी-शक्ति-सम्पन्न प्रभाव-पूर्ण जगद्गुरुत्व-मय व्यक्तित्व में आश्रित हो धर्म-ज्योति का प्रसार एवं धम-ग्लानि का निराकरण कर रहा है। शताब्दियों के धार्मिक सुषुप्ति-काल के अनन्तर पुनः आपने शंकराचार्य-प्रभाव-दुन्दुभी बजाई है।

आपका व्यक्तित्व पूर्णता की सीमा के जिन सूक्ष्म स्तरों से असम्भिन्न है, वहाँ तक मानवीय कल्पना का भी प्रवेश दुस्साध्य ही है। आपकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का दिग्दर्शन कराना तो मानवीय लेखनी के परे है; किन्तु अनुभव-सिद्ध यह बात तो लिखी ही जा सकती है कि श्री-चरणों का स्मरण कर जिसने जिस समय जो इच्छा की है वह पूर्ण ही हुई है। क्यों न हो, जब भगवान् स्वयं उद्घोषित कर रहे हैं कि "आचार्यं मां विजानीयात्"—आचार्य को मेरा स्वरूप ही समझो, तब एक उत्कृष्ट धर्माचार्य के अभिन्न हृदय अनन्य भक्तों को इस प्रकार ईश्वरीय चमत्कृति का अपने आराध्य आचार्य-चरणों में साक्षात् अनुभव होना कोई आश्चर्यजनक अनहोनी घटना नहीं मानी जा सकती। फिर, आचार्य के स्वरूप का विश्लेषण

करने पर स्पष्टतया विदित हो जाता है कि उनका आधिदैविक स्वरूप परब्रह्म ही होता है। जिस प्रकार परब्रह्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पादक, पालक, और संहारक, त्रिविध शक्तियाँ निहित रहती हैं, उसी प्रकार आचार्य भी त्रिधा-शक्ति-सम्पन्न होते हैं। उनमें भी दुर्गुण संहारकत्व, रुद्रत्व होता है, शान्त-दान्त, विवेक, विज्ञान आदि सद्गुणों का उत्पादक होने से ब्रह्मत्व (ब्रह्मापन) रहता है और इन्हीं पवित्र गुणों का पालकत्व-रूप विष्णुत्व रहता है। इसीलिए आचार्य की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थं आचारे स्थाप्यत्यति।
स्वयंमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्च्यते॥

अर्थात् शास्त्र के गम्भीर रहस्यपूर्ण अर्थ को संचित करे और उसको प्रजा के आचार में स्थापित करे और स्वयं उसका आचरण करे इसीलिए वह आचार्य कहा जाता है।

किन परिस्थितियों, किन प्रयत्नों एवं किस जीवन-क्रम ने आपके व्यक्तित्व को इस पूर्णता तक पहुँचाया है, इसका परिज्ञान हमारे अपने जीवन के अभ्युत्थान और भावी संसार के सत्पथ-प्रदर्शन में अवश्य सहायक होगा, इसी लोभ से पूज्यपाद के चरित्र-ग्रन्थ के बिखरे हुए पन्नों का संकलन किया जा रहा है। कठिनाई है—क्रम-बद्ध सम्पूर्ण परिज्ञान प्राप्त करने की। श्रीचरणों के जीवन का अधिक समय जन-विहीन, घनघोर वन-पर्वतों की एकाकी गुफाओं और कन्दराओं में व्यतीत हुआ है। वहाँ का वृत्तान्त कैसे मालूम हो? कोई चिन्ता नहीं। भगवत्कृपा इसमें भी सहायक होगी। अभी हम इस जीवन-चरित्र की ऐतिहासिक गवेषणा में उस परिधि से नहीं घिरे हैं जो समय के आवरण से परिस्थितियों और

घटना-चक्रों के साक्षी चक्षुओं को तिरोहित कर देती है। उत्तराखण्ड में हिमालय के सुदूर दुर्गम तीर्थों एवं विन्ध्य गिरि चित्रकूट, अमरकण्टक आदि क्षेत्रों तथा रेवा और जाह्नवी के प्रधान स्थानों के वयोवृद्ध लोगों से उन प्रान्तों में श्रीचरण से सम्बन्धित घटनाओं का यथावत ज्ञान हो ही जाता है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी इतस्तत: के रोचक वृत्तान्त श्रीचरणों से भी सुनने को मिल जाते हैं। प्रसङ्गवश उपदेशों में स्वयं श्रीमुख से जंगलों के अनुभव निकल पड़ते हैं; क्यों न हो! पूज्यपाद तत्त्वज्ञ महर्षियों की यही प्रणाली रही है कि जिज्ञासु को जिस प्रकार से बोध होता है, उसी शैली का वे अनुसरण करते हैं। जड़ भरत को, रहुगण को उपदेश करते हुए कहना पड़ा था 'पुराऽहं भरतो नाम राजा'—मैं पहले भरत नाम का राजा था।

जड़ भरत परम ज्ञानी, तैल-धारा-वत् आत्मतत्त्व में वृत्ति-निमग्न रखनेवाले थे। उन्हें क्या आवश्यकता थी कि अपनी पूर्व स्मृति जागृत करके परिच्छिन्न अहं भाव को प्राप्त होकर यह परिचय देते कि पहले मैं ही भरत नाम का राजा था? किन्तु नहीं; तत्त्वदर्शी महात्मा अधिकारी को पाकर कुछ शेष नहीं रख सकते। जिस प्रकार ढालू स्थान को पाकर जल स्थिर नहीं रह सकता, बह ही पड़ता है, उसी प्रकार अधिकारी प्राप्त होने पर तत्त्व ज्ञानी बिना उपदेश किये रह ही नहीं सकते और सुन्दरता यह है कि जिस शैली से जिज्ञासु को बोध होगा उसी शैली से बोध करायेंगे। लोक-कल्याणकी दृष्टि से तत्त्वज्ञों की स्वाभाविक वृत्ति का यही वैलक्षण्य है।

जड़ भरत ने राजा रहुगण को उत्तम अधिकारी जानकर तत्त्व का उपदेश किया। रहुगण सबमें 'हाँ, हाँ' कहते गये;

परन्तु जब राजपाट छोड़ने का अवसर आया कि वैराग्यवान् होकर उस तत्त्व ज्ञानोपदेश को विज्ञान-रूप में परिणत करके स्वयं आत्मानुभूति की जाय, तब रहुगण सोचने लगे—"ये तो विरक्त हैं, इनके पास तो कुछ है नहीं। पर, मैं तो राजा हूँ, इतने बड़े राजपाट और इतने बड़े उत्तरदायित्व का परित्याग कैसे कर सकता हूँ ?" जड़ भरत ने बहुत समझाया, पर रहुगण का राज्य-मद निर्मूल न हुआ। तब विवश होकर राज्य-मद चूर करने के लिए और रहुगण को यथार्थ बोध कराने के लिए जड़ भरत को कहना पड़ा कि हे रहुगण ! "पुराऽहं भरतो नाम राजा"। यह सुनते ही रहुगण का राज्य-मद जाता रहा। उसने सोचा "जब भरत जैसे चक्रवर्ती राजा को अमृत-तत्त्व का पान करने के लिए इस वेश में आना पड़ा, तो मैं तो राजा की योग्यता से भरत के सम्मुख कुछ भी नहीं हूँ।" यह विचार मन में आते ही रहुगण का राज्याभिमान जाता रहा। राज्य-मद चूर होते ही अखण्ड बोध उदय हो गया और रहुगण कृतकृत्य हो गये। इस प्रकार परमदयालु तत्त्वज्ञ महर्षि-गण लोक-कल्याण की भावना से अधिकारियों के समक्ष अपने पूर्व अनुभवों को प्रकट करते आये हैं। उनकी यह दयालु प्रकृति ही हमारे आध्यात्मिक, आधिदैविक और सूक्ष्म भौतिक जगत् के यथावत ज्ञान का कारण है।

महर्षियों की परम्परानुगत यह प्रणाली अभी भी हमें उपलब्ध है। कभी-कभी उपदेशों के बीच में प्रसङ्गवश भगवत्पूज्यपाद के तपश्चर्या-काल की घनघोर वन-पर्वतों की घटनाओं के श्रवण का सौभाग्य मिल ही जाता है।

श्रीचरण का प्रारम्भिक जीवन बहुत ही चमत्कारिक और आदर्श रहा है। बाल्यावस्था से ही आपके मन में संसार की

क्षणभंगुरता भासने लगी थी। व्यावहारिक जीवन से आप प्रायः उदासीन ही रहते थे। नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और अच्छे सुन्दर वस्त्रादि जो बच्चों को स्वाभाविक ही प्रिय होते हैं उनपर आपकी कभी दृष्टि ही नहीं गई। जीवन के आमोद-प्रमोद की सामग्री और बच्चों के नाना प्रकार के खेल-खिलौने कभी आपको आकर्षित नहीं कर सके। बाल्यावस्था का स्वाभाविक चाञ्चल्य भी आपसे दूर ही था। कम बोलना और हस्त-पादादि इतर इन्द्रियों का भी यथासाध्य निरोध आपकी स्वाभाविक विशेषता थी। जहाँ बैठते, बैठे ही रह जाते। न जाने अपनी किस विचार-धारा को सँभाले अपनेपन में निमग्न रहते। व्यावहारिक प्रवृत्ति कम और दैनिक घटनाओं का आपका अपना दृष्टिकोण निराला ही था। आपकी प्रत्येक हलचल में गम्भीरता और बोलचाल में विचित्र अलौकिकता का अनुभव कर, कुटुम्बीजन आह्लादित और विस्मित होकर भावी महानता का आभास पाया करते थे। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" यही सबको आभासित होता था। क्यों न हो, जब आपको महानता के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर कलिकाल में मानवी जीवन का श्रेष्ठतम आदर्श स्थापित करना था, तब बाल्यकाल से ही इतर संसारी मनुष्यों की स्वाभाविक परिपाटी से भिन्न आपका अलौकिक व्यवहार-क्रम हो, यह कोई अनहोनी बात नहीं थी।

उपनयन-संस्कार के बाद आप वेदाध्ययनार्थ काशी भेज दिये गये। तत्कालीन प्रचलित सुकुलीन ब्राह्मण-कुलों की प्रथा के अनुसार अयोध्याप्रान्त के सरयूपारीण प्रतिष्ठित पंक्तिपावन गाना मिश्र कुल में पुत्र-विवाहोत्सव का समय आ गया। कुटुम्बी-जन प्रयत्नशील हो उठे। कुछ लोग काशी आये कि

बुला ले चलें। गृह से बुलावा आया। मालूम हुआ कि विवाह के लिए बुलाये गये हैं। अभी दूध के दाँत पूरे गिरे भी नहीं थे, कि जिस अवस्था में सहस्रों बालक धूलि-धूसरित अबुद्धावस्था में आपस में लड़ते-भिड़ते हँसते-खेलते इतस्ततः बाल-क्रीड़ा में निमग्न रहते हैं, उस ८-६ वर्ष की सुकोमल अवस्था में आपके कानों में विवाह का शब्द पड़ा। हृदय चौंक उठा! रोमाञ्च हो आया!! विवाह? विवाह और उससे सन्नद्ध संसार को मानस पलड़े पर तौला; निर्मल नवीन बाल हृदय के विशुद्ध पलड़ों पर संसार रत्ती-रत्ती तुल गया।

मानसपट पर प्रवृत्ति के प्राङ्गण की अपनी निराली छवि ने एक बार वसन्त मनाया। जगत एक बार अपने स्थूल स्वरूप का प्रदर्शन कर इतरा उठा। उसने अगणित सामग्रियाँ उपस्थित कीं कि प्रवृत्ति-पथ पर उतरकर समस्त इन्द्रियाँ यथेच्छा भोगकर आनन्द लाभ करें। इतना प्रलोभन!! नवीन बालहृदय सहसा विस्मित हो उठा!!! देखने में लगता है कि संसार सुखागार है। इस ओर से इसे उपादेय ही पाया।

उधर जीवन-पथ के दूसरी ओर दृष्टि फेरी। निवृत्तिमार्ग में निराला ही आकर्षण पाया गया। यहाँ क्षण-भंगुरता नहीं, स्थिरता थी; कोलाहल नहीं, शान्ति थी; यहाँ सम्भावित आवागमन नहीं, प्रत्यक्ष मोक्ष था; किन्तु, विद्यमान था प्रथम आवरण विकर्षण का—ऊपर से किंचित् काय-क्लेश उपस्थित था—किन्तु उसीके भीतर ज्योतिर्मय आकर्षण था; अमरत्व के प्रलोभन का नहीं, अस्तित्व का आह्वान था; और निस्सन्देह इसका पलड़ा भारी था।

अब परमार्थ की तुलना करते हुए संसार के सूक्ष्म स्तरों में प्रवेश किया। तुलनात्मक परिस्थिति उत्पन्न हुई। मानसरोवर

के शुभ्र मराल के विशुद्ध नेत्रों में वास्तविकता उतर आई; सत्य की एक स्पष्ट रेखा अंकित हो उठी— छनकर इस ओर आगया शुभ्र शुद्ध दुग्ध और बह गया उस ओर नीरस नीर। नीर-क्षीर-विवेक में संसार कदली-स्तम्भवत् रमणीय पाया गया— ऊपर से तो हरा-पीला बड़ा सुन्दर दिखता है, किन्तु भीतर त्वक् ही त्वक् है, एक के बाद दूसरी परत निकलती जाती है, सार वस्तु कुछ है ही नहीं— इस प्रकार संसार को अविचारित रमणीय पाया। निश्चय किया कि इसमें प्रवेश करना व्यर्थ है। निवृत्ति-मार्ग का आश्रयण करना ही ध्रुव हुआ। सहसा उस पथ का द्वार खुला। प्रवेश की घण्टी बजी। हृदय-तन्त्री झंकृत हो उठी। अन्तस्तल में गूँज उठा 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः'।

उधर प्रवृत्ति-पथ की सांसारिक सजग रमणीयता ने निराश हो अपना मुँह फेर लिया; और इधर, निवृत्ति-पथ पर नव प्रभात की अरुण लालिमा त्याग-वैराग्य के शीतल मन्द झकोरों से अपने बाल-रवि का संवर्धन करती हुई विहँस पड़ी। प्रातः के चहचहाते पक्षी साथी बने और चिर-सुप्त संसार सुषुप्ति के प्राङ्गण में अपना समस्त वैभव सँभाले पीछे छूट गया।

आज जाह्नवी प्रफुल्लित हो अपनी तरङ्गों में उमङ्ग भर लाई है। उसके किनारे त्याग-वैराग्य मूर्तिमान् होकर बाल-क्रीड़ा के लिए उपस्थित हुआ है। एक नन्हा-सा बालक प्रवाह के विरुद्ध बढ़ा चला जा रहा है। भगवती भागीरथी की पुनीत लहरें किनारे से थपकियाँ लेती हुई मानो आगे बढ़ रही हैं कि उसका चरण चुम्बन कर लें; किन्तु वह एकाग्रमना एक अनोखे अपने-पन में अपनी विचार-धारा सँभाले बढ़ा चला जा रहा है।

प्रभात की मधुर वेला विगत हुई, अरुण लालिमा ने उद्दीप्त रश्मियों को स्थान दिया और दिनकर ने अपना तेज

सम्हाला। जगतीतल उत्तप्त हो उठा। मध्याह्न का उग्ररूप प्रत्यक्ष हुआ। ऊपर से दिवाकर का तप्त तेज और नीचे से गंगा की उत्तप्त बालुका का असह्य ताप। किन्तु क्या यह भी उस अग्रगामी एकाग्रमना की गति का अवरोध कर सका? अरे! उसने तो जीवन की इस विषमता से ही हँस-हँस-कर खेलने का व्रत लिया है। उसे ये क्षुद्र बाधाएँ कहाँ रोक सकती हैं?

भगवती भागीरथी का हृदय द्रवित हो आया। क्यों न हो, माता का हृदय है— दो चुल्लु जल पिलाकर वृक्ष की शीतल छाया में कुछ समय रोकना चाहा—किन्तु उत्तर मिला— माँ, तेरे सहारे ही जीवन का यह वृहत् पथ व्यतीत होना है, अभी से रुकने का स्वभाव मत बनने दे, एक बार हिमालय की किसी एकाकी गुफा तक पहुँच जाने दे, जहाँ बैठकर जीवन की साध पूरी कर सकूँ। माँ! बढ़ जाने दे, मार्ग लम्बा है, कहते हुए तापसी हृदय ने जाह्नवी को प्रणाम कर आगे पथ सँभाला। भास्कर विस्मित हुए, मध्याह्न का इनका पूर्ण तप्त तेज भी उस अविचलमना बाल-तपस्वी की गति-निष्ठा भंग न कर सका—और उन्होंने कुछ लज्जित भाव से अस्ताचल को प्रयाण किया। रजनी चरण चुम्बन कर सिर पर व्योम थाली उठाये, अगणित दीप जलाये, आगे आगे प्रकाश कर चली।

थकावट नहीं, नींद नहीं, जन-विहीन अर्ध निशा में एकाकीपन का भय तनिक नहीं। अरे! वह तो सजग विवेक-वैराग्य के सहारे, षट् सम्पत्ति अपनाये, मुमुक्षुता को फलीभूत करने आगे बढ़ रहा है। संसार की सीमाबद्ध परिधि के परे यह वह अमर पथ है जहाँ क्लेश का लेश नहीं है; किन्तु आश्चर्य है, इस ओर खड़ा हुआ यदि कोई झाँककर दूर से

उस पथ पर दृष्टि-पात करे तो उसकी कठोरता को देखकर चीख ही पड़ेगा; किन्तु ऐसे को देखकर निश्चय ही अमर पथगामी एक बार उसकी बाल-बुद्धि पर विहँस पड़ता है कि हैं तो स्वयं दुःख-पङ्क-निमग्न आत्महा, किन्तु अमर-पथ-सेवी को ऊपर से दीन-दुखी मानकर दयार्त्त-स्वर का प्रयोग कर रहे हैं। ईश्वर इन संसारियों को सुबुद्धि दे!

पहला दिन गया, दूसरा बीता, और तीसरा भी ढल गया, गंगा का चुल्लू-चुल्लू जल पीकर। यह सुकोमल अवस्था और विधि की इतनी उपेक्षा! क्या यह परीक्षा का समय है? परीक्षा भी हो तो भी विधना! क्या यह अति नहीं है? किन्तु, हमें सन्तोष है। इस ओर से यदि अति है तो उस ओर से भी उसका यथार्थ प्रत्युत्तर हो रहा है। बाल-तपस्वी के हृदय में विधि की इस उपेक्षा का तनिक भी उल्लेख नहीं; वह तो सर्वापेक्षा-रहित होकर, हँसता हुआ एकाकी इस दुरूह पथ पर बढ़ा चला जा रहा है। यह वह ध्रुव-निष्ठा है जिसकी गति-विधि पर दिन में दिवाकर और रात्रि में राकेश की साक्षी में उत्तर की पराकाष्ठा से उत्तरी ध्रुव भी डोल चुका है। जाह्नवी साक्षी है, बाल-तपस्वी पूर्ववत् प्रफुल्लित अपनेपन में समाहित है, बढ़ रहा है।

बस, आगे बढ़ना ही उसका एक कार्य है। भावी चौंक उठी! उसके इंगित पर भगवान भास्कर बिदा होते-होते 'परीक्षा-समाप्त' की घंटी बजा गये। एक ज़मींदार ने गंगा के इस पार से देखा कि कौन यह नन्हा-सा बालक, गोधूलि में झाड़ी-झंखाड़ बेधता-लाँघता, बीहड़ में बढ़ा जा रहा है! उसने अपने एक नौकर को भेजा कि उसे बुला लाये; किन्तु क्या यह संभव था? किसकी सामर्थ्य थी कि उस परम

स्वतंत्र एकनिष्ठ बाल-तपस्वी को अपने पास नौकर द्वारा बुलवा सके? ज़मींदार को स्वयं समीप जाना पड़ा। पूछा—"आप कौन हैं?"

"हमें जानकर क्या करोगे? अपना अर्थ कहो।"

उसने फिर प्रार्थना की—"महाराज, मेरा अर्थ यही जानना है कि आप कौन हैं और इस असमय में इस बीहड़ कुमार्ग पर कैसे बढ़े चले जा रहे हैं।"

"यह समय है या असमय और यह कुमार्ग है या सुमार्ग, इसका ज्ञान तुम्हें नहीं हो सकता; इतना ही जान लो कि हम काशी से चलकर हिमालय में तपस्या करने जा रहे हैं। जाओ, अपना कार्य करो; हमें व्यर्थ छेड़ने से कुछ लाभ नहीं।"

ज़मींदार ने पुनः कुछ साहस बटोरकर धीमे स्वर में कहा—"महाराज, क्या मैं जान सकता हूँ कि आपने मार्ग में कहाँ और कब भिक्षा की है?"

"अभी तक तो गंगोदक ही अन्न-जल का काम दे रहा है।"

"तो चलिये, ग्राम में कुछ जलपान करके आगे बढ़िये तो हमें भी सन्तोष रहेगा। रात्रि भी हो रही है।"

"भिक्षा के लिए तो हम किसीके दरवाज़े जायँगे नहीं। रही बात तुम्हारे सन्तोष की; तो हमें कुछ खिलाने-पिलाने से तुम्हें पूर्ण सन्तोष हो जायगा, यह भी नहीं माना जा सकता। सन्तोष तो तब माना जाय जब उसके बाद फिर कोई इच्छा न उठे। यह हमें भिक्षा कराने से तो होगा नहीं। यह तो तभी हो सकता है कि जब उस परम तत्त्व को जान लो जिसके जानने से सब जाना जाता है और जिसकी प्राप्ति होने

पर फिर कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती—इसलिए कुछ ऐसा प्रयत्न करो जिससे वास्तव में सन्तोष हो जाय।"

आश्चर्य! नन्हें-से दुधमुँहे बालक के मुख से परमार्थ का यह उपदेश! और जिस केन्द्र-विन्दु से यह ज्ञान-स्रोत उद्भूत हो रहा है, क्या उसकी चरम स्थिति और उसके विकास की परिधि का अनुमान किया जा सकता है? मानव-शरीर है, किन्तु निश्चय नहीं होता कि भूलोक में यह मानवी बाल-वाणी है।

वहीं गंगा-तट पर ही दूध की व्यवस्था की गई। दो-तिहाई का गंगाजी को भोग लगा दिया गया। दुग्ध-धारा जल-धारा में समाहित हो गई। भगवती भागीरथी से जितना जल तीन दिन में पिया था, वह एक ही बार में दूध से चुका दिया गया। माता का हृदय गद्-गद् हो उठा। वरदान मिला—अब जीवन में जल से जठराग्नि शान्त करने की आवश्यकता न पड़ेगी। संसार की दृष्टि में जीवन की एक पहेली हल हुई—माता अन्नपूर्णा ने गोद में उठा लिया। फिर क्या था, वर्षों सघन वन-पर्वतों की एकाकी गुफाओं में रहे; वर्षों आकाश के नीचे मैदानी स्वामी के नाम से मैदानों में स्वच्छन्द व्यतीत किये। न कभी किसीसे याचना की और न किसीसे संकेत किया; किन्तु खाद्य-सामग्री की कमी कभी नहीं रही। कितने ही बार जंगलों में, घनघोर अँधेरी रातों में न जाने कौन सेरों मलाई और टोकनियों फल ला-लाकर रख जाता था। क्यों न हो! जिसे विश्वम्भर पर पूर्ण विश्वास है उसके लिए कहाँ, किस वस्तु की कमी हो सकती है? यहीं भगवान् कृष्ण का वाक्य प्रत्यक्ष सफल होता देखा गया—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

ध्येय एक है—उस अचिन्त्याचिन्त्य अनन्त-शक्ति-सम्पन्न परम पिता का साक्षात्कार और उसीके वृहदङ्क में समाहित हो रहना। इसीलिए दायें-बायें न देखकर सीधे हिमालय के लिए ही उत्तर की ओर यात्रा हो रही है। सन्ध्या-वन्दन का नित्य-कृत्य नहीं छूटा। प्रधानतः जाह्नवी-सान्निध्य में ही किनारे-किनारे यात्रा चली। अयाचित—मनु के शब्दों में 'अमृत'—जब जैसा अधिकारियों द्वारा प्राप्त हुआ उसीसे भगवदर्पण-बुद्धि-पूर्वक क्षुधा निवृत्ति की, पीने को अञ्जलि में गंगोदक मिला, विश्राम के लिए वृक्षों की शीतल छाया में पवित्र भूमि-शय्या सर्वत्र उपस्थित मिली।

इस काल की यह विशेषता रही कि जिसने देखा वह समीप अवश्य आया। शरीर पर एक विशिष्ट ओज था; जाग्रत दैवी तेज विद्यमान था जिसकी अवहेलना मानवी नेत्र कर ही नहीं सकते थे। उपस्थिति में एक विचित्र आकर्षण था। सामीप्य पाकर मानव-हृदय गद्गद होकर धन्य-धन्य कह उठता। ध्रुव. प्रह्लाद की छवि साकार होकर आँखों में झूल पड़ती। भगवन्निष्ठा-मय, त्याग-वैराग्य-पूर्ण बाल-वाणी के दो शब्द श्रवण कर नास्तिक हृदयों में भी एक बार भक्ति का सूत्रपात हो जाता।

वास्तव में बात यही घटती थी जो तुलसीदासजी ने भगवान के लिए कही है—"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी"। भक्त-उपासक गण इनमें भगवान् की अनन्य अहेतुकी भक्ति का लक्षण पाते और संसार से उपराम किंचित् विरक्त हृदयों के लिए ये साक्षात् त्याग-वैराग्य की मूर्ति और साधन-चतुष्टय के साकार विग्रह थे। (ज्ञान के) जिज्ञासु इनमें ज्ञाननिष्ठ के लक्षण घटाते और (मोक्ष की इच्छा

करनेवाले) मुमुक्षु इनमें जीवन-मुक्ति का आभास पाते। इनसे कुछ बात करने पर विज्ञ पुरुषों को सहसा भगवान् आदि-शंकराचार्य की बाल्यावस्था और उनकी अलौकिक बुद्धि का स्मरण हो आता; स्मरण ही नहीं, उन्हें उनकी प्रतिच्छवि का एक बार साकार दर्शन हो जाता। धन्य है भगवान् शंकर की लीला, यह कहते हुए वे मंत्र-मुग्ध से बाल-तपस्वी की अलौकिक छवि निहारते रहते। जिस स्थान से होकर चले जाते, लोग स्मरण करते और बहुमत यही निर्णय करता कि अवश्य कोई विशिष्ट देवांशी अवतारी पुरुष हैं। अधिकांश यही मानते कि शंकर का अंशावतार हुआ है, और इस प्रकार भ्रमण द्वारा वर्तमान बढ़ती हुई नास्तिकता के दमन और सनातन सिद्धान्तों के प्रचार की भूमिका बनाई जा रही है।

उस समय के विचारशील लोगों की यह धारणा फलवती हुई। आज हमारे सामने उसका प्रत्यक्ष रूप उपस्थित है। किन्तु, यह अवस्था आई है बड़े ही मर्यादा-पूर्वक एवं सुव्यवथित क्रम से। भगवान् जब मर्यादा-रक्षण के लिए अवतरित होते हैं, तब स्वयं मर्यादा-पालन द्वारा क्रियाशील जगत् में आदर्श स्थापित करते चलते हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टा भावी जगत् के लिए आदर्श होती है।

यह सनातन मर्यादा रही है कि विद्या-लाभ गुरुओं से किया जाय। भगवान् राम और कृष्ण ने भी गुरु-गृह जाकर ही विद्या प्राप्त की थी। भगवान् आदि-शंकराचार्य ने भी गुरु की शरण ली थी। अतः यहाँ कैसे वह मर्यादा उल्लंघन की जा सकती थी? विचार हुआ कि स्वतंत्र रूप से जप-तप-अभ्यास अमर्यादित ही होगा; अतएव अपने अन्तरात्मा के चिरप्रदीप्त प्रकाश की प्रत्यक्षानुभूति में किन्हीं सद्गुरु की छाप लगवा लेना आवश्यक है।

अब शास्त्रों में जैसे सद्गुरु के लक्षण लिखे हैं, वैसे शास्त्रोक्त सद्गुरु की खोज का संकल्प किया। मानस-पट पर सद्गुरु का चित्र खींचा। मानो कोई कह उठा—'तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'—अन्तिम दो शब्द महत्त्व के हैं—श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम—श्रुति के इन दो शब्दों में अपने दो शब्द और जोड़े गये—क्रोध-रहित बालब्रह्मचारी। इस प्रकार चार शब्दों की अपनी सद्गुरु की व्याख्या बनाई—श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, क्रोध-रहित, बालब्रह्मचारी। इनकी प्राप्ति का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

बहुतों की प्रतिष्ठा सुनी। जा-जाकर साक्षात किया। कहीं कोरे पाण्डित्य की छाप मिली; कहीं शुष्क त्याग-वैराग्य उपस्थित मिला; कहीं योग-समाधि की ख्याति के रहस्य में आन्तरिक असन्तोष ही पाया गया; कहीं भगवद्भक्ति के वृहदङ्क में साम्प्रदायिक संकीर्णता का साम्राज्य देखकर हताश होना पड़ा; और कहीं श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता दोनों प्रतीत हुईं तो बालब्रह्मचारी न होने के कारण वे सद्गुरु की अपनी कसौटी पर न उतरे।

एक दण्डी स्वामी महात्मा बालब्रह्मचारी सुने गये। उनके योगाभ्यास की ख्याति भी बहुत सुनी। उनके समीप गये। वहाँ आश्रमस्थ सेवकों से विदित हुआ—स्वामीजी अभी समाधि में हैं। अतः प्रतीक्षा में बाहर बैठ गये। स्वामीजी समाधि से उठकर सीधे बाहर पधारे। आँखों में कुछ गुलाबीपन था। प्रतीत हो रहा था कि प्राणायाम की गरमी अभी शान्त नहीं हुई है। बड़ी नम्रतापूर्वक उठकर दोनों हाथ जोड़कर कहा—"ॐ नमो नारायणाय। स्वामिन, कुछ अग्नि की आवश्यकता है। मिल जाय तो बड़ी कृपा होगी।" यह सुनना

था कि स्वामीजी की अग्नि भड़क उठी। आँखें लाल हो आईं। क्रोध-पूर्वक बोले—………………(कुछ अपशब्द) "जानता नहीं, दण्डी के पास अग्नि कहाँ ? मुझसे अग्नि माँगने आया है………………।" स्वामीजी के आवेश के कारण कुछ दो कदम पीछे हटकर बोले—"स्वामिन् ! अग्नि रही नहीं, तो जली कहाँ से ?"

बस, सहसा हवा बदल गई। क्रोध जाता रहा। एक नन्हें-से बालक से इस प्रकार परास्त होकर स्वामीजी के हृदय में ठंडा पसीना उतर आया। रुक न सके, दौड़कर गले लगा लिया। बोले— "बेटा, हम अवश्य अपने स्थान से च्युत हो गये। यह तो अन्तःकरण का धर्म है। निमित्त पाकर विकृत हो ही जाता है। अपने वास्तविक स्वरूप में आत्मा तो सदा निर्लेप है। तुम धन्य हो जो इस अवस्था में अग्नि प्रज्ज्वलित करने की उत्कट इच्छा रखते हो।"

"परन्तु, स्वामीजी आपकी अग्नि की प्रथम ज्वाला ने ही मुझे भयभीत कर दिया है।"

"धन्य हो, बेटा धन्य हो", यह कहते हुए बालक की अपूर्व बुद्धि की प्रशंसा करते हुए बड़े प्रेम से २-३ दिन अपने आश्रम में रखा, कुछ रोचक यौगिक माहात्म्य सुनाया; कुछ उपदेश दिये। इच्छा थी कि समीप में रह जायें तो इन्हें योगाभ्यास कराया जाय। अवस्था स्वल्प है, अच्छे अभ्यासी निकलेंगे। किन्तु, छूटा हुआ तीर फिर हाथ आता नहीं—पहले ही स्वामीजी के क्रोधी होने का सिक्का जम गया था। खेद रहा कि स्वामीजी भी अपनी सद्गुरु की कसौटी में उन्नीस ही उतरे।

आगे बढ़े। वर्षों बीत गये: पर अभी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। इस बीच में अनेकों रोचक एवं शिक्षाप्रद घटनाएँ घटीं। बहुत लिखा जा सकता है, और वह सब उपादेय है; अवकाश पाकर प्रसङ्ग-वश भावी उपदेश-माला के साथ पाठकों के सम्मुख अवश्य उपस्थित होगा। यहाँ प्रसंग बढ़ जाने के भय से विस्तार रोका जा रहा है।

भक्तों की टेक भगवान् निबाहते भी खूब हैं। जिस निर्मल ज्योति की खोज में कितने जले-अध-जले दीप बुझे से प्रतीत हुए थे, उसका साक्षात् हुआ। नव-प्रभात की अरुणिमा क्षितिज पर आ गई। भगवान् भास्कर की उदीयमान आभा अंकित हो उठी। कहाँ? अन्तिम छोर पर। जहाँ से आगे कोई स्थान नहीं, कोई मार्ग नहीं। हिमालय के अन्तस्तल में, उत्तर काशी में सद्गुरु-समागम हुआ। काशी से उत्तर काशी, फिर क्या था, उत्तरोत्तर अभीष्ट-सिद्धि।

सद्गुरु की खोज में वर्षों लगे। कितने ही घाट का पानी पीना पड़ा; कितनी ही कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं; परन्तु सद्गुरु ढूँढ़कर ही रहे। जब तक मिले नहीं तब तक चैन नहीं ली। सत्य है, ध्येय जिनका एक है, और है जिनके हृदय में अपने एक ध्येय के लिए धड़कन, सफलता उनका चरण-चुम्बन करती है, अवश्य करती है। विजय सदा ही उनके साथ है। वैभव उनका किंकर और प्रतिभा उनकी दासी है। विकास उनके सहारे अपना अस्तित्व जमाता है। प्रकाश उनके इंगित पर भूतल पर उतरता है। छाया ही उनकी, पराजय और पराभव के लिए राहु-केतु है। विधि ने उनके भाल पर 'जय' के दो ही अङ्क लिखे हैं। उन्हें विदित है कि जीवन उनका नहीं, जीवन की सफलता उनकी है; उनकी सफलता का

वैभव उनका नहीं, अरे वह तो विश्व का वैभव है। धन्य हैं वे, देव हैं वे जगतीतल पर, मानव नहीं।

अभी अवस्था लगभग तेरह वर्ष की है। बुद्धि अद्वितीय और गुरु-भक्ति अपार है। आश्रम में एक स्वतन्त्र कुटिया मिली हुई है। शास्त्र का अध्ययन चल रहा है। विद्वान् महात्माओं को पढ़ाने में आनन्द आता है, अथवा यों कहें कि उन्हें नवीन शुद्ध तीव्र बुद्धि के तर्क-झकोरों से आलाड़ित-विलोड़ित सिद्धान्त-तरङ्गों में उन्मज्जन-निमज्जन का सुख मिलता है। महात्मा लोग स्वयं आश्रम में आ-आकर शास्त्रों का निगूढ़ रहस्य खोल रहे हैं— (विद्वान् पाठक इस विधि-गति पर ध्यान दें) पढ़ने तक के लिए किसीके पास नहीं जाना पड़ा। सभी चाहते हैं कि हमारे पास जो शास्त्र की कुञ्जियाँ हैं, वे ऐसे उत्तम अधिकारी को प्रदान करें, अथवा उन्हें ऐसी कुशाग्र बुद्धि के तीक्ष्ण तर्कों द्वारा भेदन कराकर, शोधन कराकर, शुद्ध स्वरूप में कर लें।

जो वेदान्त में लीन हैं और जिनकी वृत्ति वेदान्ती हो चुकी है, वे भी न रुक सके। आप्तकाम, परमनिष्काम, सदा-एकान्त-सेवी अद्वैतनिष्ठ महात्मा भी अपनी एकाकी कुटियों से निकलकर आने लगे। उदीयमान बाल-रवि को देखकर उनकी भी इच्छा हुई कि विधि की अवश्यम्भावी शुभ्र गति में कुछ अपना भी हाथ बँटा लें। ऐसे साधन-सम्पन्न अधिकारी को पाकर, जो पास में था वह रोका न जा सका—दिया और प्रसन्नता-पूर्वक दिया। कुञ्जियाँ प्रदान कीं और शास्त्र का कपाट खोलकर दर्शा दिया कि तत्त्व यह है।

यह सब हुआ थोड़े ही समय तक। अब गुरुजी ने प्रक्रिया बदलनी चाही। गुरुजी विशेष प्रसन्न हैं, उन्हें अपने

आश्रम के छोटे ब्रह्मचारी पर स्नेह है, प्रेम है। कैसे कहा जाय कि उसपर उनकी ममता-सी बढ़ गई है, कुछ आकर्षण विशेष हो गया है। गुरुजी के इतने खिंचाव का कारण? कारण समझने में प्रयास है। हृदय को ऊँचा उठाना होगा। वास्तव में इसके यथार्थ रहस्य को प्रत्यक्ष करने के लिए अपने आप ही अपने एक जीवन को दाँव में लगाकर हार जाना होगा—और हारना होगा खुले आम, चार के बीच उचित रीति से। अपने को शिष्य की श्रेणी में रखकर अपना जीवन सद्गुरु-चरणों में अर्पण कर देना होगा; तब कहीं वास्तविकता खुल सकेगी। यह अनुभव का विषय है। इसके उल्लेख में तो कठिनाई है ही, किन्तु पढ़कर ठीक समझने में और भी प्रयास होगा। जैसा हो, पाठक अपना पक्ष सँभालें।

लेखनी तो हमारी प्रयत्नशील है, लिखना ही है कि इस विशेषता का कारण इनकी अल्प आयु और तीव्र बुद्धि नहीं; अल्प समय में अगाध शास्त्र-ज्ञान और इनकी वैराग्यादि-चतुष्टय-साधन-सम्पत्ति नहीं; इसका कारण कोई प्रत्यक्ष दृष्यमान स्थूल कारण नहीं, कोई मौलिक, लौकिक कारण नहीं। फिर इसका कारण? कारण की शून्यता है।

शिष्य और गुरु के दो हृदयों के बीच सूक्ष्मातिसूक्ष्म भी ऐसा कोई स्तर नहीं है—ऐसा कोई आवरण, ऐसा कोई माध्यमिक पदार्थ नहीं है, जिसपर कोई कारण आधारित किया जा सके। दो हृदयों के बीच, बस हृदय-सम्मिलन ही है। मिलन की भी कोई रेखा नहीं जिसे कह सकें 'यहाँ से दूसरे की सीमा है।' दो हृदयों में अभेद है। कोई अन्तर नहीं। लेशमात्र भी, अणुमात्र भी असामञ्जस्य नहीं। पाठक, कहीं भ्रम न हो जाय। यह पारस्परिक सम्मिलन नहीं—दो हृदयों के

पारस्परिक प्रयास का यह फल नहीं। यहाँ तो एक स्थिर है; दूसरा आकर उसमें समाहित हुआ है। दीप-शिखा अखण्ड है; प्रकाश पाने की अभिलाषा रखनेवाले ने ही बाहर से आकर उससे अपना एकीकरण किया है।

अरे, यह तो अचिन्त्य, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न चिन्मयी, चिर-प्रदीप्त परमात्म-ज्योति से चिर-प्रकाशित जाज्वल्यमान तेजोमय सद्गुरु के अन्तःकरण में शिष्य के अपने पुनीत अन्तः-करण के समर्पण का फल है। समुद्र तो पूर्ववत् अथाह लहरा रहा है, सरिता ही अपने प्रयासों से उसमें समाहित होकर तद्रूप हो गई है। महाकाश सदा ही निश्चल है, एकरस है; मठाकाश ने ही अपने परिच्छिन्न आवरण को भग्न कर उससे अभेद स्थापित किया है। यही गुरु-शिष्य के आन्तरिक अभेद-स्थापन की प्रक्रिया है।

शिष्य अपने परिच्छिन्न अहंभाव को अपनी समस्त वासनाओं-सहित भस्म कर अपने अन्तःकरण में सद्गुरु का स्थान बनाता है। शिष्य की कोई इच्छा नहीं रह जाती; उसके अपने कोई भाव और उद्गार नहीं रह जाते; उसकी अपनी कोई प्रक्रिया नहीं रह जाती। मन तो वह अपना सद्गुरु-चरणों में अर्पित कर चुकता है। सद्गुरु के अन्तःकरण की भावनाओं से भावित होकर ही उसके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सूक्ष्म, स्थूल हलचलें हुआ करती हैं। उसके मानस-पट पर सद्गुरु के मानस का चित्र चित्रित रहता है और सद्गुरु-हृदय की प्रेरणा उसकी प्रेरणा बनती है।

उसके भाव उसके अपने भाव नहीं, वे तो गुरु की भावनाओं के आभास हैं। उसके विचार उसके अपने विचार

नहीं, सद्गुरु की विचार-धारा के प्रतीक हैं। उसका व्यक्तित्व उसका अपना व्यक्तित्व नहीं, वह तो गुरु की धरोहर है। शिष्य के आत्म-समर्पण की इस ऊँची सीढ़ी पर गुरु का सर्वस्व शिष्य का है और शिष्य उस सर्वस्व के सहित अपने को सद्गुरु की झाँकी में सजाये रहता है।

शिष्य अपने समर्पण के इस उच्च स्तर में व्यवहार और व्यवहार-शून्यता के बीच – जागृत और समाधि के बीच— सद्गुरु के अंतःकरण की भावनाओं के बीच लहराता हुआ डोलता है। उसका हृदय एक अलौकिक मौलिकता का अनुभव करता है। समाधि का सुख मानो इसे जागृत में ही प्राप्त है।

दूँ क्या तुम्हें? कौन वस्तु अपनी रही हे नाथ!
माँगूँ क्या तुमसे? जो तुम्हारा वही मेरा है॥

इन उक्तियों का विशुद्ध भाव भी उस अभिन्नता का वस्तुतः चित्रण नहीं कर पाता। वह लेखनी का विषय नहीं। शब्दों में उसे उतारने का प्रयास करना तो उसका परिहास करना है।

शिष्य के आत्म-समर्पण की इस उच्चतम भूमिका पर भी भगवान् आदि-शंकराचार्य का "नाद्वैतं गुरुणा सह" * का अनुशासन गुरु-शिष्य के बीच में (आन्तरिक अभेद होने पर भी) पूज्य-पूजक-भाव बनाये रखता है। गुरुजी आदेशोपदेश भी करते हैं, शिष्य ग्रहण भी करता है, तदनुकूल आचार-व्यवहार भी करता है, प्रत्यक्ष रूप से व्यवहारोपचार बराबर चलता रहता है।

---

* भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

आश्रम के छोटे ब्रह्मचारी की यही व्यवस्था है। गुरु-चरणों में आत्म-समर्पण की भावना उत्कृष्ट है; और यह भावना अपने भाव-जगत में ही मँड़राकर नहीं रह गई; क्रिया-शील जगत में उतरी; विलम्ब नहीं लगा—उसके इंगित पर घटनाचक्र ने क्रम बदला।

उत्तर काशी में अमेरिका से कोई परिव्राजक व्याख्यान-दाता आये हैं। आज उनका व्याख्यान होना है।

सभी साधु-महात्मा आमंत्रित हैं। गुरुजी तो कभी कहीं जाते ही नहीं; आश्रम के प्रधान सेवकों की अभिलाषा देखकर आज्ञा दे दी कि सब लोग चले जाना; जाते समय प्रमुख द्वार पर बाहर से ताला बन्द करते जाना और जब आना तब खोलकर चले आना। समय हुआ, और सब आश्रमवासी चले। ताला बाहर से बन्द कर दिया गया। इधर छोटे ब्रह्मचारी का हृदय धड़कने लगा। व्याख्यान में ऐसी क्या वस्तु मिल जायगी जो अपने इष्ट के इस घोर अपमान का बदला चुका सकेगी? जिनकी कृपा के बल पर अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्राप्त करना है, जिनके श्रीचरणों में जीवन समर्पित है, और जो अपने जीवन की संजीवनी शक्ति के स्रोत बन चुके हैं, उन्हें इस प्रकार ताले के अन्दर बन्द करके सब लोगों का जाना कितना लज्जास्पद है! पग-पग पर यह भावना पुष्ट होने लगी। जैसे-जैसे आगे बढ़े, वैसे-वैसे यह ग्लानि तीव्रतर होती गई। थोड़ी ही दूर जाने पर यह निश्चय दृढ़ हो गया कि सब जाते हैं, जाने दो, अपना लौट ही पड़ना ठीक है।

किन्तु लौटने के लिए कोई प्रत्यक्ष कारण साथियों को बताना आवश्यक था। यह तो कह नहीं सकते थे कि गुरुजी को

ताले में बन्द करके आना ठीक नहीं; क्योंकि सब कहने लगते कि तुम्हीं एक बड़े भक्त हो गुरुजी के, इतने पुराने-पुराने सब सेवक लोग चल रहे हैं, क्या वे गुरुजी का अपमान करके आये हैं? इसलिए कहा—"व्याख्यान में उत्तर काशी के विद्वान् महात्मा आयेंगे; इसलिए व्याख्याता का भी भाषण क्लिष्ट होगा; हमारी समझ में तो आयगा नहीं। इसलिए हमारा जाना व्यर्थ ही होगा। हम लौटे जाते हैं।" पश्चात् कुञ्जिका लेकर लौट आये।

पीछे कदम रखा ही था कि दो दण्डी संन्यासी महात्मा आश्रम की ओर जाते दिखलाई दिये। जल्दी बढ़कर ताला खोला। उन्हें अपनी कुटिया में आसन देकर पूछा—"महाराज, भिक्षा हुई है कि नहीं"? ❀ उन्होंने कहा "इसी उद्देश्य से आये हैं कि यहाँ कुछ भिक्षा करके व्याख्यान सुनने जावेंगे।" विचार किया कि व्याख्यान का समय तो प्रायः हो ही गया है। जल्दी से हलुआ बनाकर उन्हें जलपान कराया तब वे व्याख्यान सुनने चले गये। इधर आप अपने नित्य-कृत्य में संलग्न हो रहे। सायंकाल सब लोग व्याख्यान सुनकर लौटे। वे दोनों दण्डी सन्यासी भी आये। गुरुजी ने दण्डी महात्माओं को देखकर पूछा—"आज आपकी भिक्षा हुई है?" उन्होंने कहा—"हाँ महाराज, यहीं आश्रम में व्याख्यान सुनने जाते समय भिक्षा करके गये थे।" गुरुजी ने सोचा—"आज तो आश्रम बन्द ही रहा। इन्होंने कहाँ भिक्षा की?" पूछा—"आश्रम में कहाँ?"

बताया—"अन्तिम कुटिया में एक छोटे ब्रह्मचारी थे। उन्होंने जल्दी से हलुआ बनाकर हम लोगों को भिक्षा करा दी

❀ धर्मशास्त्र का आदेश है कि जब संन्यासी महात्मा मिलें उस समय प्रथम प्रश्न उनसे उनकी भिक्षा के सम्बन्ध में होना चाहिए।

थी जिससे व्याख्यान में भी समय पर पहुँच गये थे।"

नित्य की भाँति रात्रि में जब छोटे ब्रह्मचारी प्रणाम करने गये, तब गुरुजीने पूछा—"क्या तुम व्याख्यान सुनने नहीं गये थे ?"

"नहीं महाराज, हमने सोचा कि हमारी समझ में तो आयगा नहीं, जाना व्यर्थ ही होगा। इसलिए नहीं गये।"

दण्डी संन्यासियों के अतिथि-सत्कार की बात पूछी। जैसा किया था बता दिया। गुरुजी ने सोचा इस अवस्था में तो सभा-समारोह बच्चों को स्वाभाविक आकृष्ट करते हैं; इनके न जाने का कोई विशेष ही कारण होना चाहिए। कुछ सूक्ष्म विचार किया। योगी थे ही, परिस्थिति स्पष्ट चित्रित हो गई। विदित हो गया कि इनकी गुरुनिष्ठा आश्रमस्थ सभी सेवकों से उत्कृष्ट है। फिर क्या था। उत्कृष्ट अधिकारी के लिए उत्कृष्ट पथ निर्धारित हो गया।

दूसरे दिन जब रात्रि में प्रणाम करने गये तब गुरुजी ने रोक लिया। सब प्रणाम करके चले गये तब कहा, "जितना शास्त्राध्ययन हो गया है, पर्याप्त है। अब हम तुम्हें साधन में लगाना चाहते हैं, जिससे जो बात शास्त्र से जानी गई है उसका अनुभव कर लो।"

"जो आज्ञा महाराज।"

"जो साधन तुम्हारे लिए निश्चय किया गया है, वह हमारे साथ इस आश्रम में रहकर नहीं हो सकेगा; क्योंकि तुम्हारा वह मार्ग होगा..................जो कि बहुत उत्कृष्ट साधन है। पर, इस आश्रम में कई लोग बीस-बीस पचीस-पचीस वर्ष से पड़े हैं—साधन-सम्पत्ति न होने के कारण कोई

इसके अधिकारी ही नहीं हैं; इसलिए यह मार्ग किसीको नहीं बताया गया। यदि यहीं रहकर तुम इसमें दत्तचित्त होगे तो ये लोग ईर्षा-वश तुम्हारे मार्ग में बाधक हो जायँगे। यहाँ से समीप ही, तीन मील की दूरी पर एक स्थान है। वहीं जाकर.................इस प्रकार से अभ्यास करो। सात दिन में एक बार सन्ध्या समय चले आया करो और एक रात्रि यहाँ बिताकर प्रात:काल चले जाया करो। कल हम तुमको वहाँ जाने की आज्ञा देंगे; पर अभ्यास करने के लिए वहाँ जाओ, ऐसा नहीं कहेंगे। सब लोगों के सामने तुमको ज़ोर से डाँटेंगे और आश्रम से हटकर वहाँ जाकर रहने के लिए कह देंगे। तुम घबराना नहीं। चुपचाप अपना सब सामान लेकर वहाँ चले जाना जिससे लोग समझें कि इन्होंने कोई बड़ी भूल की है जिससे गुरुजी ने अप्रसन्न होकर आश्रम से हटा दिया है।"

गुरुजी दूसरे दिन किसी निमित्त को लेकर आश्रम के सभी लोगों पर बिगड़े। कुछ हल्ला-सा हुआ। सभी लोग एकत्र हो गये। छोटे ब्रह्मचारी भी जाकर दंडवत् करके एक किनारे खड़े हो गये। गुरुजी अप्रसन्न हैं। सभी अपनी-अपनी गर्दन झुकाये खड़े हैं; डाँट खा रहे हैं। छोटे ब्रह्मचारी के आते ही मानो सबको छुटकारा मिल गया—इन्होंने आकर मानो सबकी लाज रख ली, सबका दोष अपने ऊपर ले लिया। गुरुजी की दृष्टि इन्हीं पर केन्द्रित हो गई। बोले—"हटो, यहाँ से निकलो। यह स्थान बच्चों के लिए नहीं है। तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं है। कुठारी! हटाओ इनको; अभी कुटिया खाली कराओ। जाओ; यहाँ तुम्हारा कोई काम नहीं।"

"कहाँ जायँ महाराज?"

"जाओ, जहाँ ठीक समझो रहो। कुठारी! तीन मील

दूर वह स्थान इन्हें बता दो— रहना चाहें तो वहीं रहें या चले जायँ जहाँ ठीक समझें।"

"जो आज्ञा" कहकर दंडवत प्रणाम किया। अपना सामान लिया। सदा की भाँति कुठारी ने एक सप्ताह की खाद्य-सामग्री दे दी। सब-कुछ लेकर वहाँ चले गये और रहने लगे।

दिनरात बीतने लगे, साधन-पथ अग्रसर होने लगा। लक्ष्य-पूर्ति की ओर प्रगति बढ़ने लगी। गुरुवार को गुरु-चरणों के दर्शनार्थ जाते और सात दिन किये हुए अभ्यास का अनुभव सुनाकर नवीन आदेशोपदेश लेकर चले आते। गुरु-चरणों के दर्शन से हृदय को नवीन स्फूर्ति मिलती। मानस श्रान्ति खोकर नव जीवन पाता। साधन-पथ पर प्रकाश मिलता। निष्ठा दृढ़ होकर, क्षमता बलवती होती और सद्गुरु-कृपा के सहारे इष्ट उतरता आता है। क्रमशः मानस-पलड़ा भारी होता जाता है।

साधन-क्रम बढ़ रहा है; सुषुप्ति का प्रगाढ़ान्धकार मन्द पड़ रहा है। स्वप्न का खेल मिट-सा रहा है और वह जागृत का प्रकाश भी धुँधला-सा हो रहा है। रवि-रश्मियों का वह तप्त तेज और शुभ्र प्रकाश मानों कोई छीने ले रहा है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ मानों क्रमशः अपना अस्तित्व खोकर विलीन-सी हो रहा हैं। आश्चर्य है! यह क्या एक नवीन स्वप्न जागृत हो रहा है? कौन जानता है? साधक के हृदय में यह नवीन स्वप्न की जाग्रति नहीं; यह तो दीर्घस्वप्न ❀

❀ संसार को दीर्घस्वप्न कहा गया है। जिस समय योगी की आत्मनिष्ठा दृढ़ होती है उस समय योग और ज्ञान का सामञ्जस्य होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का भाव हो जाता है। ऐसे समय में संसार की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। इस एकात्मभाव की चरम सीमा में संसार का वस्तुतः भान ही नहीं होता।

के सुषुप्ति की वेला है; तुरीया के जागरण का नव प्रभात हुआ चाहता है। कौन इस उषा का माधुर्य वर्णन करेगा? कौन इसकी दिव्य सुरभि-मय शीतल मन्द समीर के उल्लसित झकोरों से विकसित नूतन कलियों पर रञ्जित श्याम मधुप के गुञ्जन से अपनी हृदय-तंत्री झंकृत कर बाहर स्वर फूँक सकेगा? कौन इस प्रभात के उदीयमान आदित्य की छवि निहार उसकी झाँकी चित्रित करने हेतु भारती का आह्वान करेगा? जो इस प्रभात में जागनेवाला है, उसके लिए तो हमारी जाग्रति अर्ध-निशा का रूप लेकर प्रभात के पहले ही विलीन हो चुकेगी; जो इस प्रभात में विहरण करनेवाला है वह भारती के अंक से बाहर हो जायगा; निस्सीम होगा उसका भ्रमण-पथ, असीम होगी उसकी सारी व्यवस्था और अनन्त अपार हो जायगा उसका व्यक्तित्व। फिर वह कैसा? और, कौन उसका वर्णन करेगा?

किन्तु, क्या यह लेखनी को चुनौती है? क्या उसके विश्राम का समय आ गया? नहीं, उसका पैनापन तुरीया के इस नूतन प्रभात की सीमा से टकराकर अपना तेज सँभाल रहा है—उसकी तो अभिलाषा है कि अपनी रेखाओं से सीमाबद्ध—लेखबद्ध—कर ले इस निस्सीम प्रभात की अपार परिधि को और एक बार उसका प्रदर्शन कर खुले आम लुटा दे उसका सुनहला वैभव सारा। दो शब्दों की ब्रह्म-फाँस अपनी वह सँभाल रही है—'नेति' के अपने दो अंकों के सीमित प्राङ्गण में ही निबद्ध करना चाहती है तुरीया के समस्त निस्सीम का अपार वैभव।

लेखनी अपनी इस विजय-मन्यता पर घी के दीप ही क्यों न जलाये; परन्तु ब्रह्मचारी श्रीगुरु-कृपा से साधन-पथ की उच्चतम सीमा की ओर जिस तीव्र गति से बढ़ रहे हैं, वह

अद्वितीय है, प्रशंसनीय है, स्पर्धा के योग्य है और भारती की लेखनी का महान् गौरव-मय विषय है।

सत्य है, विरले ही किसीको यह सौभाग्य प्राप्त हो पाता है। जन्म-जन्म के अगणित पुण्य-पुञ्जों का फल एकत्रित होकर ही ऐसी अनुकूल परिस्थिति ला पाता है; अन्यथा कितने ही जीवन में इन सुमधुर घड़ियों की साध लिये ही तड़पकर रह जाते हैं; कितने ही उसका स्वप्न देखते हुए जीवन-मरण के बीच झूलते रह जाते हैं; कितनों की साँसों के दो तार इसके झंकृत स्वर से स्वर-मिलन की प्रतीक्षा में ही टूट जाते हैं; कितनों का जीवन-गीत इसका पूरा अलाप नहीं भर पाता; कितने इस महासमुद्र के किनारे जाकर इसकी उत्ताल तरंगों से भयभीत होकर लौट पड़ते हैं; कितने इसमें प्रवेश कर सतह पर ही छटपटाते रह जाते हैं; कितने गोते लगाकर भी अन्तस्तल तक नहीं पहुँच पाते; और कितने अन्तस्तल तक पहुँचकर फिर बाहर लौटने में अशक्त हो वहीं विलीन होकर रह जाते हैं—समुद्रावगाहन करके ऊपर उठकर अन्तस्तल का रहस्य प्रकाशित करनेवाला कोई विरला ही होता है। उसके साधन का प्रकार, उसकी दृष्टि, उसकी गति का क्रम और उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था और विधि दूसरों से भिन्न रहती है।

ऐसी ही अलभ्य विरली विभूतियों की अनोखी गति-विधि जैसी हमारे चरित्रनायक की गति-विधि है। उनका साधन-क्रम अपना निराला, उनकी गति विचित्र और उनका दृष्टिकोण अपना अनोखा है।

गुरुजी ने एक बार एक सेवक भेजकर पुछवाया—"हम आना चाहते हैं। क्या वहाँ पर स्थान खाली है?" उत्तर मिला—"स्थान बिल्कुल खाली नहीं है।" आये हुए सेवक ने समझाया—

"गुरुजनों से व्यवहार बहुत सँभालकर करना चाहिए। जैसा आपने कहा, वैसा यदि हम जाकर कहेंगे, तो आपपर तो प्रायः गुरुजी अप्रसन्न हैं ही, हमारी भी आफत आ जायगी। ठीक से हम तो यही कह देंगे कि वहाँ गुफाओं में कई कमरे खाली हैं। हम देख आये हैं। आप चल सकते हैं।" उत्तर मिला—"देखिए, आपकी आयु, आपकी विद्या और आपकी गुरु-भक्ति को हम सभक्ति नमस्कार करते हैं। आप हमसे बड़े हैं। आपका हम सम्मान करते हैं; परन्तु इस समय आप दूत की हैसियत से आये हैं। गुरुजी का प्रश्न आपने हमें सुनाया है, हमारा उत्तर जैसा हम कहते हैं, श्रीचरणों में निवदन कर दीजिए कि वहाँ पर एक भी कमरा खाली नहीं है। इसके बाद अपनी ओर से जो कुछ आपको कहना हो आप अच्छी तरह से कह सकते हैं। परन्तु, हमारा उत्तर हमारे ही शब्दों में कहियेगा। गुरुजी अप्रसन्न होंगे तो हम भुगत लेंगे—आपको क्या? आप तो सूचना-वाहक हैं इस समय।"

दूत ने आकर उत्तर सुनाया। सुनकर गुरुजी मौन रहे; परन्तु छोटे ब्रह्मचारी की यह धृष्टता की बात आश्रम भर में फैल गई। इन्होंने गुरुजी का बहुत अपमान किया है। अबकी गुरुवार को आयें तो इन्हें ठीक करना चाहिए। इस प्रकार की भावना फैल गई। आश्रम के बड़े पुराने सेवक गुरुवार की प्रतीक्षा करने लगे।

गुरुवार आया और संध्या होते-होते गोरखपुरी ब्रह्मचारी भी गुरुजी के समीप आ पहुँचे। देखा प्रायः सभी लोग एक के बाद एक गुरुजी के समीप आ बैठे। आज सभीकी आँखों में ब्रह्मचारी की ओर एक विशेष गम्भीर दृष्टि है। आपस में एक दूसरे की आँखें मिलकर कह लेतीं हैं कि देखो, इनकी धृष्टता का फल अब मिलता ही है। अब सभी बुद्धिमान् अपनी-अपनी

बुद्धि टटोल रहे थे कि किस प्रकार उस प्रसंग को गुरुजी के सम्मुख उपस्थित करें। एक जो गुरुजी के कुछ विशेष कृपापात्र समझे जाते थे, बोल ही पड़े। पूछा—"महाराज, गुरु की इच्छा की अवहेलना करनेवाला किस प्रायश्चित्त का भागी होता है? इच्छा की अवहेलना तो एक प्रकार से गुरु की अवज्ञा ही हुई। इससे वह तो गुरु-द्रोही ही सिद्ध होता है। फिर ऐसे गुरु-द्रोही के साथ क्या बर्ताव होना चाहिए?" गुरुजी आश्रम के वातावरण से परिचित थे ही, किन्तु उन्होंने कुछ तटस्थ-से होकर कहा—"अपना प्रश्न किसी उदाहरण से स्पष्ट करो। अभी तुम्हारा तात्पर्य ठीक स्पष्ट हुआ नहीं।" अब तो प्रश्न-कर्त्ता संकोच में पड़ गये। सामने स्पष्ट कैसे कहें; किन्तु गुरु-आज्ञा थी, कहना ही पड़ा। कह गये—"उस दिन की बात है जब महाराज ने उस स्थान पर जाने की इच्छा प्रकट की थी और पुछवाया था छोटे ब्रह्मचारी से स्थान के सम्बन्ध में तो वहाँ गुफाओं में कई कमरे खाली रहते हुए भी इन्होंने कह दिया कि स्थान बिलकुल खाली नहीं है। श्रीचरणों के प्रति इनकी इस धृष्टता से आश्रम के सभी लोगों को महान क्षोभ है। और, अब महाराजश्री से हम लोग जानना चाहते हैं कि इनके साथ हम लोगों का कैसा व्यवहार रहना चाहिए?"

गुरुजी बोले—"क्यों जी, इस सम्बन्ध में तुम क्या कहना चाहते हो?"

"मेरे साथ आश्रम-वासी कैसा व्यवहार रखें, यह अनुशासन तो श्रीचरण ही देने में समर्थ हैं। हाँ, हम इतना ही कह सकते हैं कि उस दिन जो कहा था वही सत्य था और अब भी वही परिस्थिति है कि वहाँ गुरुजी के लिए कोई स्थान खाली नहीं है।"

उस पक्ष से आवाज़ आई—"क्यों ब्रह्मचारी, क्या कोने के वे दो कमरे और सामने के दो कमरे ख़ाली नहीं हैं ?" उत्तर मिला—"आपको तो वहाँ का बोध है नहीं। आपसे हम अधिक विश्लेषण क्या करें ?"

"समझा दो इन लोगों को। जो बात हो स्पष्ट कह दो" —गुरुजी ने कहा।

"महाराज, इन लोगों से बताने की बात तो है नहीं। हम क्या कहें ? हम तो प्रार्थना-रूप में ही कह सकते हैं।"

"अच्छा, हमींसे कह दो। ये लोग सुनना चाहते हैं तो सुना दो।"

"जहाँ तक हम समझ पाये हैं गुरु-चरणों का निवास मिट्टी-पत्थर के कमरों में तो होता नहीं। इनके निवास के लिए भक्तों के हृदय का कमरा चाहिए। मेरे पंचकोषों के समस्त कमरों में श्रीचरणों का निवास पहले से ही हो चुका है। जिस दिन हमने श्रीचरणों का पवित्रतम चरणोदक ग्रहण किया था उसी समय अपने हृदय के कमरों को पूरा ख़ाली कर इन्हें वहाँ आसीन करा दिया है। अब हमारे पास कोई कमरा ख़ाली नहीं है। गुरुदेव तो रोम-रोम में व्याप्त हो चुके हैं। यदि हमें पहले दिन विदित होता कि भविष्य में फिर कभी स्थान की माँग होगी तो पंचकोषों में से कोई एक-दो रिक्त रख लेते; पर अनभिज्ञता-वश अपने सब कमरे पहले ही भर रक्खे हैं—और रही बात उन मिट्टी-पत्थर के कमरों की तो महाराजश्री जानते ही हैं कि सब ख़ाली पड़े हैं। यदि वहीं निवास की इच्छा होती तो पधार ही जाते। हमसे पुछवाने की आवश्यकता ही न थी। इसलिए, जिन कमरों के लिए महाराज ने पुछवाया था उन्हींके लिए हमने उत्तर दिया था।"

इतना कहकर ब्रह्मचारी एक लम्बी साँस खींच मौन हो गये। विकसित हृदय-कमल की वह आभा संकुचित-सी हो गई; मुखमुद्रा म्लान हो गई, मानो अन्तर्हृदय-वेदना जागृत हो उठी है; मानस-मोतियों का हार बिखर गया है—अपनापन खो-सा गया है। वास्तव में आज उनकी वह निधि लुट गई है जिसे वे अपने हृदय के अन्तरतम में बड़ी सावधानी से सदा ही छिपाकर अब तक सँभाले हुए थे। आज लोगों ने उन्हें लाचार कर दिया कि वे स्वयं अपने मानस-पट के रहस्यमय गोपनीय चित्रों की सुनहली पँखुड़ियों को वैखरी की उठती-गिरती तरंगों में खुले आम छोड़कर दिन के प्रकाश में झंझावात के झकोरों में बिखर जाने के लिए छोड़ दें। जो कहने की वस्तु नहीं थी, वह उन्हें आज बरबस कह देनी पड़ी। वातावरण स्तब्ध हो उठा; उपस्थित मंडली का हृदय धड़कने लगा; नेत्र एक दूसरे को देखकर अपनेपन पर लज्जित हो रहे हैं; जहाँ उन्हें केवल कोयले का भाण्डार समझ पड़ा था, वह तो चमकते हुए हीरों की खान निकली; जहाँ उन्होंने दिन में भी अन्धकार देखा था, वहाँ तो चिर-प्रकाशित देदीप्यमान दीपक की अखण्ड प्रभा का साम्राज्य दृष्टिगोचर हुआ। सभीको अपनी अदूरदर्शिता पर खेद हुआ—अपने मलिन हृदय को एक बार सभीने ब्रह्मचारी-जी के निर्मल भावों से धोकर पवित्र किया। उधर गुरुजी के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक उठे। बाल-हृदय के आत्म-समर्पण का भाव जब तक उस हृदय में निहित था, तब तक गुरुजी के हृदय में भी उसका चित्र सुरक्षित और गुप्त था। किन्तु, जब एक हृदय से उसका विवरण बाहर निकला, तब दूसरा हृदय भी उसे अपने में छिपाये रहने में असमर्थ हो उठा—गुरुजी के हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ आया। उससे मेघदूत उठकर पलकों पर दो बूँद जमा गया और सुना गया सद्गुरु-हृदय की

सारी कहानी। इस समय गुरु और शिष्य-समाज के बीच 'यतो वाचो निवर्तन्ते' की भावना छा रही है; केवल मौन का ही साम्राज्य है। किसीको स्मरण नहीं कितना समय इस जागृत-तन्द्रा में बीत गया। सहसा शब्द हुआ, वातावरण चौंक उठा। सबका हृदय धड़कने लगा। गुरुजी ने आदेश किया—"सब लोग चले जाओ।" एक के बाद एक उठकर सब चले गये, किन्तु अभी छोटे ब्रह्मचारी का आसन न उठा। सबके साथ वे कैसे उठें? उन्हें तो अभी अपने अपराध की क्षमा याचना करना है।

एकान्त पाकर गुरुजी से बोले—"भगवन, आज मुझे न प्रकाशित करनेवाले विषय का सबके समक्ष प्रकाश करना पड़ा, इसके लिए क्या प्रायश्चित्त करना होगा?"

गुरुजी ने कहा—"है तो यह अपनी निष्ठा का विषय अवश्यमेव गोपनीय, पर तुमने तो हमारी आज्ञा से कहा है, इसलिए इस विषय में अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। सुन तो लिया लोगों ने; पर यह निष्ठा कोई बँटा नहीं सकता। संसार का प्रवाह ही ऐसा है कि सुन-जानकर भी विरलों की ही सत्य में प्रवृत्ति होती है।"

यह भी एक नाटक था, हो गया। कितने ही ऐसे नाटक गुरु-शिष्य के बीच नौ वर्ष उत्तर-काशी में हुए। जिनको सौभाग्य था उन्होंने देखा। एक के बाद दूसरा परदा गिरता गया; दृश्य बदलता गया; दर्शक जहाँ थे वहीं मूर्तिमान होकर, वैसे ही निहारते रह गये। नायक ने कितने ही रूप बदले, और अन्त में वह क्या का क्या होकर सबके सामने उपस्थित हुआ है। धन्य है विधि का विधान! उसी नाट्य-शाला में उन्हीं हाथों से कितने और भी पात्र सजाये गये, किन्तु जगत् की दृष्टि में सफल नायक एक ही जँचा।

नायक का नायकत्व उसका अपना होता है। नाट्य-शाला और सजानेवाला उससे अपना गौरव ही बनाते हैं। नायकत्व पर उसके व्यक्तित्व का अपना अधिकार होता है। जब तक वह मंच के परदे के पीछे है, दर्शक उसके अपनेपन से परिचित नहीं; किन्तु रंग-मंच पर पदार्पण हुआ कि सहसा सभीकी दृष्टि उसी एक पर खिंच जाती है। अब वह समय आ गया है जब वह प्रत्यक्ष रूप से जगत की दृष्टि में उतरेगा।

उपासना समाप्त हो गई है— योगाभ्यास पूर्ण हो चुका है। मानव विकास की उच्चतम सीढ़ी पार कर सत्-चित्-आनन्द की अखण्डता में प्रवेश हुआ है। उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ स्वार्थ का कोई चिह्न अवशिष्ट न था, जो था, वह सब परमार्थ ही था। कुछ अज्ञात नहीं रहा जिसके ज्ञान की जिज्ञासा हो। कुछ अप्राप्त नहीं रहा जिसके प्राप्ति की अभिलाषा हो। 'सः अहं' के सामञ्जस्य की पराकाष्ठा 'तत् त्वं' के सामञ्जस्य की पराकाष्ठा से टकराई है—और टकराई है इस सुन्दरता के साथ कि एक-दूसरे में समाहित होकर एक हो गई है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' सुस्पष्ट प्रत्यक्ष हो चुका है। यह वह अवस्था है, जिसके वर्णन में सनातन भगवती श्रुति भी 'नेति', 'नेति' कह चुकी है। प्रकाश और विकाश का चरम केन्द्र, यह वह परम धाम है जहाँ पहुँचे हुए के लिए वेद का "न स पुनरावर्तते" का उद्घोष है। यह स्थल वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके विकाश से महाकाश अपना विस्तार पाकर तत्त्वों का प्रसार करता है। यह महासमुद्र का वह मध्य-बिन्दु है जिसकी स्थिति ही अनन्त लहरी की महान् मर्यादा बाँध रखती है। यह प्रशान्त है, स्तब्ध है स्वभावतः; किन्तु अब लहराना चाहता है। अब इस महासमुद्र में लहरें उठेंगी। किनारे पर खड़े हुए

कितने ही इसकी उत्ताल तरंगों में तैरकर नहीं, बहकर नहीं, डूबकर अपनी अभिलाषा की पूर्ति करेंगे।

वास्तव में इसकी एक-एक हिलोर में कितना आनन्द है! यह उस हिलोर में हिलकर नहीं, गिरकर नहीं, डूबकर न उठनेवाला ही जानता है। जिधर चले, चल पड़े। फिर निहारा नहीं दाँयें-बाँयें क्या है और पीछे क्या छूट गया। जिस ओर चले, प्रकाश होता गया। जहाँ से निकले विकास होता गया। जिस बाग में ठहर गये उसके सूखे वृक्ष फलने लगे। जिस ऊसर से निकल गये, वह उपजाऊ हो गया। जिन्होंने सुन-जान कर, देखकर अनुभव किया है, वे आज भी कहते हैं, "ये वे दुर्लभ चरण हैं जो जिस मार्ग से निकल जाते, उसपर सैकड़ों नर-नारी पीछे-पीछे दौड़ते दिखाई पड़ते हैं कि पद-चिह्न देखकर उस धूलि से अपने को पवित्र कर लें।"

एक बार कुछ अधिक कोलाहल सुनाई दिया। पीछे मुड़कर देखा कि कुछ लोग धूलि में कुछ बीनते से बढ़े आ रहे हैं। समीपवर्ती एक से पूछा—"ये लोग क्या कर रहे हैं?" उसने बताया—"पद-चिन्ह देखकर, महाराज की चरण-धूलि उठा रहे हैं।" यह कल्पना नहीं, अनुभूत सत्य है। कितने साधक तपस्वी अनुष्ठान करते हुए जंगलों में अनुमान से इन चरणों को ढूँढ़ते हुए विचरते थे, और कितने भक्तगण इनके दर्शन के लिए संकल्प लेकर देवी-देवताओं के अनुष्ठान करते थे। और, इनके अन्तर्यामित्व की कुछ ऐसी घटनायें हैं कि अवश्यमेव इन यजमानों के संकल्प की पूर्ति होती थी। इनका अनुष्ठान सफल होता था और इन्हें अभीष्ट दर्शन प्राप्त होते थे। इसका रहस्य जानने के लिए श्रीचरणों से उत्सुकता प्रकट करने पर यही उत्तर मिला है—"चित्त हो आता था, उसी ओर निकल

पड़ते थे।" "धन्य है, भगवान् की महिमा अपरम्पार है"—यही कहते बनता है।

धर्म-सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् नगरों में जन साधारण को बड़ी सुगमता से दर्शन करते देखकर एक बार एक विरक्त महात्मा ने जबलपुर में कहा था—"भगवन्, यदि हम लोग जानते कि ये दर्शन इतने सस्ते हो जायँगे तो कुछ दिन और रुक जाते। जंगलों में इनकी खोज में अनुष्ठान करते हुए मारे-मारे न भटकते"! कितना रहस्य है विरक्त के इन शब्दों में!! संभवतः यही पर्याप्त है यह दर्शाने के लिए कि कितना दुर्गम, दुष्प्राप्य और कितना पूर्ण जीवन रहा है घनघोर जङ्गलों में। एक गेरुआ अंचला, उसीकी कभी सिर पर पगड़ी बँधी दिखाई देती और वही कभी कटि में लिपटा हुआ। कोई कहते परमहंस हैं और कोई अवधूत समझते। परम स्वच्छन्द जीवन, जीवन-मुक्ति का साक्षात् स्वरूप और निस्सन्देह अन्ततम में जीवन-मुक्ति का अपार सुख—यही प्रत्यक्ष होता है।

एक बार प्रयाग के कुम्भ के समय झूँसी के निकट एकान्त गङ्गा-तट पर अचानक गुरुजी के दर्शन हो गये। पर्वकाल और सद्गुरु-समागम ने दण्ड ग्रहण का संकल्प उठा दिया—गुरुजी से प्रार्थना हुई और अनुमति भी मिल गई; किन्तु अनुमति के साथ-साथ 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' को चरितार्थ करनेवाली विघ्न-बाधाएँ उग्र रूप लेकर उपस्थित हो गईं। संसार ने पुनः अपने स्वरूप का प्रदर्शन किया और माया अपनी अंतिम आशा लेकर आगे बढ़ी कि इस बार लुभाकर समाहित करले अपने वृहदंग में इस त्याग-वैराग्य के साकार विग्रह को और सजा ले अपना प्राङ्गण एक बार इस सूर्य के आलोक से। किन्तु विवेक, षड्सम्पत्ति और मुमुक्षुता की तीव्राग्नि से परिपक्व त्याग-वैराग्य

में भर्जित बीज के सदृश अकुरित होने का अवकाश न था। माया पराजित हुई और संसार ने अपने मुँह की खाकर पीठ दिखा दी। उधर देवलोक से भगवान भास्कर ने देखा कि यह तो मेरे लोक को भेदन कर सीधे ब्रह्मलोक को जाने की तैयारी हो रही है। वे भी चलायमान होकर, उग्र विघ्न-बाधा उपस्थित करने को उद्यत हुए; किन्तु किसीकी एक न चली; जो सम्मुख आया वही पराजित हुआ और स्वभावतः विजय-पताका अन्त में उसीके हस्तगत हुई जिसने कभी पराजय जानी ही न थी। इस समय की घटनाओं में स्वाभाविक रोचकता है, शिक्षा है और भगवन्निष्ठा की उत्कृष्ट भावना का प्रत्यक्ष चित्र है, किन्तु यहाँ विस्तार-भय से उनके वर्णन में संकोच करना पड़ रहा है। अग्रिम उपदेश-पुञ्ज के साथ इनका सविस्तर वर्णन पाठकों के सम्मुख उप-स्थापित किया जा सकेगा। यहाँ यही लिखकर सन्तोष करना पड़ रहा है कि कुंभ के पुनीत पर्व-काल में ही विधिवत कर्मकाण्ड सम्पन्न हुआ और त्रिवेणी की निर्मल धाराओं के बीच नौका पर दण्ड ग्रहण हुआ।

इसके पश्चात फिर वही जङ्गलों-पहाड़ों में एकाकी जीवन प्रारम्भ हो गया—इस काल का विशेष विवरण अवकाश पाकर सविस्तर लिखेंगे।

एक बार प्रयाग से २० मील दूरी पर थे कि सुना गुरुजी प्रयाग में पधारे हैं। दर्शनार्थ गये और दण्ड उठाकर मर्यादा-सहित चाहा वन्दन करें। गुरुजी आसन से उठे और उन्होंने दण्ड हाथ से लेकर अपने आसन पर बैठा लिया। कहा—"महाराज, मर्यादा है। प्रणाम कर लें।" गुरुजी ने कहा—"बैठ जाओ। हमारी इच्छा ही यहाँ मर्यादा है।"

गुरुजी के पास उस समय पचासों मनुष्य इकट्ठे थे। यह देखकर सभीको आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी को गुरुजी

भी इनने अधिक आदर देते हैं। किसीने कहा—"क्यों न हो, अपनी स्थिति में पहुँचा हुआ देखकर गुरुजी व्यवहार में भी समानता करें तो कोई अनुचित नहीं; परन्तु उस ओर तो देखो कि गुरुजी को नमन करने के लिए कितनी उत्सुकता है, यही मर्यादा-पालन है, यही श्रेष्ठता है, यही आदर्श है, यही आज के इस समय में भी भूतल पर स्वर्ग का दृश्य है। इसी समय गुरुजी ने आज्ञा दी कि वन-पर्वतों में बहुत रह लिया, अब नगरों के समीप भी रहा करो जिससे कुछ लोगों का उपकार हो सके। इसके पश्चात् कभी नगरों के निकट वास भी होने लगा और कभी नगरों में चातुर्मास्यादि व्रत भी होने लगे। एक बार प्रयाग में चातुर्मास्य था। एक विशेष घटना घटी जो अत्यन्त रोचक एवं शिक्षाप्रद है।

शिवकोटि महादेव के समीप चातुर्मास्य हो रहा था। एक दिन सहसा साधु-वेष में एक मनुष्य मकान के सामने आकर महाराज का नाम ले-लेकर लगा गालियाँ बकने। कुछ दिन बाद पता चला कि साधु-महात्माओं के विरोधी, चन्द आदमियों का एक दल अपनी तमोगुणी प्रकृति के कारण स्वाभाविक ही प्रतिष्ठित साधु-महात्माओं को क्रोधी, लालची, आदि दुर्व्यसनी सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का प्रयोग कराया करता था। परम त्यागी ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराज पर और दुर्गुण तो नहीं आरोपित किये जा सकते थे; क्योंकि इनके तप, त्याग और योगनिष्ठा की विशेष ख्याति थी। अतएव, इन लोगों ने सोचा कि किसीको साधु-वेष में भेज इनके मकान के सामने गालियाँ बकवायी जायँ तो स्वाभाविक ही लोग उसे मार भगायेंगे। तब कहने को होगा कि ये साधुओं को पिटवाते हैं, बड़े क्रोधी हैं।

आश्रम-निवासी सेवकगण जब गालियाँ बकनेवाले उस साधु की बकवास रोकने और न मानने पर उसे मार भगाने को उद्यत हुए, तब महाराजश्री ने उन सबको तुरन्त पास बुलाकर समझाया। कहा कि हम तुम लोगों को छोटी-छोटी बातों से लगाकर योग-समाधि तक सब सिखा सकते हैं; पर गालियों पर सहनशीलता का शायद पाठ नहीं पढ़ा सकते। ईश्वर की कृपा है कि यह अवसर भी सामने उपस्थित हो गया है। तुम्हें सहनशील बनने का अभ्यास करना चाहिए।

एक ब्रह्मचारी बोले—"भगवन्! क्षमा हो, स्वायंभुव मनु की आज्ञा गुरु-निंदा-श्रवण का स्पष्ट निषेध करती है।"

महाराजश्री ने कहा—"ठीक है, इसपर विचार कर डालो कि निन्दा से क्या हानि-लाभ हैं। यदि निन्दा से लोक में हानि समझते हो तो यह स्मरण रखो कि सम्पत्ति, विपत्ति एवं समस्त लौकिक कार्यों की सफलता-विफलता प्रारब्ध के अधीन रहती है। निन्दाएँ प्रारब्ध को स्पर्श तक नहीं कर सकतीं। जो प्रारब्धाधीन पूर्व-निश्चित है वही होगा। निन्दा उसमें किंचित्-मात्र भी अन्तर नहीं डाल सकती। यदि ऐसा विचारो कि निंदा-द्वारा लौकिक-कार्यों में बाधा पड़ेगी तो यह केवल कल्पनामात्र है। कारण, निन्दक लोग तो ऐसे सत्य-संकल्पी होते नहीं कि जैसे वे कहें या प्रचार करें वैसा ही हो जाय। इससे यही निश्चय रखना चाहिए कि निन्दकों की क्रिया तनिक भी बाधक नहीं हो सकती। इधर परलोक के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का मत है कि निन्दक जन महात्माओं का पाप बँटा लेते हैं। इसलिए वे पार-लौकिक उन्नति में सहायक ही होते हैं। इस कारण सन्त-गण निन्दकों को उत्कृष्ट भक्तों की श्रेणी में मानते हैं। जो लोग श्रद्धालु भक्त होते हैं वे पूजन-आरती कर सेवा-सुश्रुषा द्वारा

महात्माओं की संचित पारलौकिक शक्ति उनकी कृपा द्वारा बँटाते हैं। इसमें महात्माओं को व्यक्तिगत कोई लाभ नहीं होता। इसलिए निन्दक लोग ही उत्कृष्ट भक्त सिद्ध होते हैं। कारण, वे निन्दक अपने लिए कुछ नहीं चाहते, प्रत्युत निन्दा कर दूसरे का पाप अवश्य बँटा लेते हैं। अतः निन्दकों को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए. अपना कार्य करते जाना चाहिए और उन्हें अपना कार्य करने देना चाहिए।"

इस प्रकार समझाकर श्रीचरण ने अपने सेवक-समाज को रोक लिया। इधर लगभग १ घंटे तक गालियाँ बकते हुए जब वह साधु थककर पास ही वृक्ष के नीचे बैठ विश्राम करने लगा तब श्रीचरणों ने उसे बुलाकर कहा—"बहुत देर गाली पाठ करते-करते आप थक गये होंगे, कुछ जलपान कर लीजिए।"

आश्रम के सेवकों ने उसे मिष्टान्न आदि से तृप्त किया और चलते समय उसे महाराजश्री की आज्ञा से दो रुपये इक्कागाड़ी के लिए भी दिये गये। बाद में पता चला कि वह अपने साथियों की गोष्ठी में जाकर इतने बड़े महात्मा के प्रति अपशब्द बकने पर बहुत पछताया। दूसरे दिन आश्रम के सामने आकर 'स्वामीजी की जय हो', 'स्वामीजी, क्षमा करो', 'हमसे बड़ा अपराध हुआ' आदि प्रायश्चित्त-वचन देर तक बोलता रहा और क्षमा-याचना करता रहा।

इन दिनों की ऐसी अनेकों आदर्श घटनाएँ अवश्यमेव प्रकाशनीय हैं। उनसे शिक्षा मिलेगी और वस्तुतः श्रीचरणों के उत्कृष्ट आदर्श-मय, त्याग-पूर्ण तपश्चर्या-मय जीवन का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकेगा; किन्तु प्रस्तुत लेख तो एक छोटी-सी पुस्तक की भूमिका है। इसमें वे सब बातें नहीं आ सकतीं।

महात्माओं की संचित पारलौकिक शक्ति उनकी कृपा द्वारा बँटाते हैं। इसमें महात्माओं को व्यक्तिगत कोई लाभ नहीं होता। इसलिए निन्दक लोग ही उत्कृष्ट भक्त सिद्ध होते हैं। कारण, वे निन्दक अपने लिए कुछ नहीं चाहते, प्रत्युत निन्दा कर दूसरे का पाप अवश्य बँटा लेते हैं। अतः निन्दकों को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए. अपना कार्य करते जाना चाहिए और उन्हें अपना कार्य करने देना चाहिए।"

इस प्रकार समझाकर श्रीचरण ने अपने सेवक-समाज को रोक लिया। इधर लगभग १ घंटे तक गालियाँ बकते हुए जब वह साधु थककर पास ही वृक्ष के नीचे बैठ विश्राम करने लगा तब श्रीचरणों ने उसे बुलाकर कहा—"बहुत देर गाली पाठ करते-करते आप थक गये होंगे, कुछ जलपान कर लीजिए।"

आश्रम के सेवकों ने उसे मिष्टान्न आदि से तृप्त किया और चलते समय उसे महाराजश्री की आज्ञा से दो रुपये इक्कागाड़ी के लिए भी दिये गये। बाद में पता चला कि वह अपने साथियों की गोष्ठी में जाकर इतने बड़े महात्मा के प्रति अपशब्द बकने पर बहुत पछताया। दूसरे दिन आश्रम के सामने आकर 'स्वामीजी की जय हो', 'स्वामीजी, क्षमा करो', 'हमसे बड़ा अपराध हुआ' आदि प्रायश्चित्त-वचन देर तक बोलता रहा और क्षमा-याचना करता रहा।

इन दिनों की ऐसी अनेकों आदर्श घटनाएँ अवश्यमेव प्रकाशनीय हैं। उनसे शिक्षा मिलेगी और वस्तुतः श्रीचरणों के उत्कृष्ट आदर्श-मय, त्याग-पूर्ण तपश्चर्या-मय जीवन का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकेगा; किन्तु प्रस्तुत लेख तो एक छोटी-सी पुस्तक की भूमिका है। इसमें वे सब बातें नहीं आ सकतीं।

यहाँ तो एक दो-बातों का उल्लेख करते चलना है, जिससे पाठकों को इस पुण्य जीवनी का दिग्दर्शन मात्र हो जाय ।

एक बार मानिकपुर के पास बेधक के घनघोर जंगल में ६ मास तक निरंतर रहे । यह वह घनघोर जंगल है जहाँ दिन में भी लोग गिरोह बनाकर सशस्त्र जाने में भी घबराते हैं । यहाँ एक बार सायंकाल के समय एक घटना घटी । उसी जंगल में एक पुराने सिद्ध अघोरी रहते थे । सूर्यास्त होने पर दृष्टि में आये । श्रीचरण तो सायंकालीन जप-तप में निमग्न बैठे थे। लगभग आधा फर्लांग दूर वे रुक गये । सहसा दिन के समान शुभ्र प्रकाश हो गया । एक दो फर्लांग की सीमा के भीतर वन-स्थली जगमगा उठी । धीरे-धीरे वह प्रकाश बदलकर नीले से रंग का बड़ा सुन्दर हो गया । उस नीले प्रकाश में अनेकों ऋषि-महर्षि इतस्ततः जाते हुए दिखे । राम-लक्ष्मण-सीता की त्रिमूर्त्ति की मनोहर छवि वन-विहार करती इधर-उधर आते-जाते दिखाई दी । मधुर मनोहर बाल-रूप में घनश्याम का भी दर्शन हुआ । लगभग आध-घंटे तक यह नाटक होता रहा । महाराज-श्री मौन होकर स्वप्नवत् सब दृश्य देखते रहे । जब यह नाटक समाप्त हुआ और प्रकाश भी बन्द हो गया, तब भी अपने आसन पर पूर्ववत् निश्चल रहे । लगभग आध घंटे तक अघोरी सिद्ध ने वहीं बैठकर प्रतीक्षा की कि सम्भवतः सिद्ध समझकर समीप आवें; किन्तु यहाँ तो परम सिद्ध का आसन लगा था। वह कब डिगने चला । जब उन्होंने देखा कि ये तो अपने आसन से डिगे नहीं, तो स्वयं समीप आकर बोले —"आप कौन हैं और यहाँ किसलिए आये हुए हैं ?" पर, ये मौन ही रहे । फिर बोले— "यहाँ रहकर जो आप चाहते हों हम अभी पूरा कर सकते हैं। अपना परिचय तो दीजिये ?"

उत्तर में कहा—"जो अभिलाषा-पूर्ति करने में समर्थ हो सकता है, वह अवश्य जान सकता होगा कि हम कौन हैं और किसलिए यहाँ हैं—हमें कुछ चाहिए नहीं, गुरु-कृपा से सब पूर्ण है।" जब उस ओर से विशेष आग्रह हुआ कि कुछ तो आप माँग ही लें, तो कहा कि क्या आप हमारी वंचना करने आये हैं? ठगना चाहते हैं क्या? इसपर वे बहुत प्रसन्न हुए। समझ गये कि ये स्वयं पँजीवान् हैं। इनपर हमारी सिद्धि का चाकचिक्य काम नहीं करेगा। समभाव में आ गये। कई बार आ-आकर मिलते रहे।

घनघोर वन-पर्वतों के निवास-काल में एक ओर सिद्ध महात्माओं से सम्मिलन और दूसरी ओर दर्शन के लिए साधकों द्वारा श्रीचरण की खोज और आपके दर्शन पाने के लिए किये जानेवाले अनुष्ठानों की अनेकों बड़ी ही रोचक शिक्षाप्रद ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। अवकाश पाकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे।

इन सघन वनों में सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशु कुत्ते-बिल्ली की भाँति पूँछ हिलाते चारों ओर फिरा करते थे। कभी कोई सामने पड़ गया तो कह दिया—"जाओ, यहाँ तुम्हारा काम नहीं है।" बस, वे पूँछ हिलाते पालतू कुत्ते की भाँति हट जाया करते थे।

क्यों न हो? महर्षि पातञ्जलि ने योगसूत्र में लिखा है, "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।" जिस समय योगी यथार्थ अहिंसा के उच्चतम स्तर पर आसीन हो जाता है, उस समय उसके सान्निध्य में आनेवाले हिंसक जन्तु भी अपना हिंसक स्वभाव त्यागकर उसके प्रभाव से अहिंसक बन जाते हैं। यही अहिंसा-प्रतिष्ठा की पहिचान है। वास्तव में हमें गर्व है,

भारत में आज भी आध्यात्मिकता का वह सनातन अखण्ड दीपक प्रज्ज्वलित है, जिसे हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने प्रदीप्त किया था। हमें गर्व है कि आज भी हमारे सामने वे पूर्ण विकसित आत्माएँ हैं, जिनके समीप की वायु में अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है और जिनकी एक हलकी-सी दृष्टि पर अस्मद् जीवों का कोटि जन्मों का सम्पुटित अभ्युदय और निश्रेयस खिल उठता है।

आज का हमारा नागरिक वातावरण पाश्चात्य ढाँचे में ढलकर भारतीयता को निगल जाने के लिए चाहे जितना उग्र रूप धारण किये हो; किन्तु जो भी व्यक्तिगत रूप से इन अनन्त-शक्ति-सम्पन्न चरणारविन्दों में एक बार पहुँच गया, शान्ति और सुख उसके अपने हो जाते हैं। सत्य है, सहस्रों विरक्त गृहस्थों का अनुभव है कि जिस इच्छा से श्रीचरण का ध्यान कर स्मरण किया जाता है वह पूर्ण ही होती है। अवतारी पुरुषों की यही पहचान है। हमें इसका महद्गौरव है और यह वास्तव में हमारा सौभाग्य है कि ऐसे महात्मा आज हमारे बीच में हैं और परम सौभाग्य है कि धर्म-सिंहासनारूढ़ होकर हमारे कल्याण के लिए स्वयं प्रयत्नशील हैं। अब भी हम न चेते तो हमारा दुर्भाग्य।

आज हमें अपने सर्वविध कल्याण-सम्पादन के लिए कम-से-कम कष्ट उठाना है। केवल इनसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेना है कुछ अपना समय देकर। इसके आगे ये कुछ चाहते नहीं। भेंट, विदाई, चढ़ोत्री, पूजा, आदि किसी रूप में भी द्रव्य स्वीकार नहीं करते। किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। स्पष्टतः लाखों की उपस्थिति में घोषणा करते हैं कि यदि कुछ अर्पण करना चाहते हो तो अपनी कुछ बुराई अर्पण करो,

जिससे हमें भी सन्तोष रहेगा कि जो किसीको नहीं दिया वह हमको दिया है और तुम्हारा भी कल्याण हो जायगा।" अपने कल्याण की इच्छा करनेवालों को यही उपदेश होता है कि यदि हमसे कुछ लाभ उठाना चाहते हो तो सम्बन्ध बनाये रहो और कुछ समय देते रहो।

ऐसे सर्वविध पूर्ण, परम त्यागी महात्मा ने पीठाधीश्वरत्व कैसे स्वीकार किया? इस रहस्य के परिज्ञान की जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसका विपद् वर्णन, पं० मायादत्तजी शास्त्री द्वारा लिखित 'ज्योतिष्पीठ-परिचय' नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। यहाँ हम केवल इतना ही लिखकर अपने पाठकों की जिज्ञासा शान्त करना चाहते हैं कि उत्तर-भारत के प्रमुख साधु महात्मा-गण, विद्वज्जन राजन्य गण तथा धार्मिक संस्थाओं की वर्षों की जंगलों में खोज और सतत प्रार्थनाओं पर अस्मदादि जीवों के सबल प्रारब्ध के उदित पुण्य-पुञ्ज के प्रताप से ही द्रवी-भूत होकर और भगवान् आदि-शंकराचार्य द्वारा प्रज्वलित सना-तन धर्म की निर्मल ज्योति को उत्तर-भारत में शान्त देखकर उसे पुनः प्रदीप्त करने के पुण्य लक्ष्य से ही आपने धर्माचार्य का पुनीत सिंहासन सुशोभित किया है।

इस दिव्य-आभा-परिपूर्ण ज्योतिर्मय स्वरूप के पवित्रतम व्यक्तित्व की चिन्मयता का यथावत् चित्रण करने की पर्याप्त योग्यता न होते हुए भी हृदय उत्सुक है और लेखनी भी उत्साह दिखा रही है; किन्तु 'पेपर कंट्रोल' से भयभीत अवकाश की परिधि ने लाल झंडी दे दी है; बस, यहीं विराम लेना है। अग्रिम उपदेश-पुञ्ज के साथ श्रीचरण के जीवन-ग्रन्थ के कुछ और संकलित पन्ने उपस्थित करेंगे। प्रयत्न हमारा यही है कि

इस उपदेश-माला की द्वितीय-पुञ्ज-सुरभि भी यथा-शीघ्र प्रसारित हो; किन्तु सफलता दैवाधीन है।

भगवत्पूज्यपाद के जीवन-ग्रन्थ के इन पत्रों का संकलन और इस 'वाक्सुधा' का कण-कण सञ्चय स्वान्तःसुखाय ही किया गया था। लोक-कल्याणार्थ इसे पुस्तक-रूप में प्रकाशित कराने के लिए प्रथम प्रेरणा लोक-संग्रही पूज्यपाद श्री १०८ दण्डी स्वामी अद्वैतानन्द सरस्वती महाराज से मिली थी; इसलिए इसका सम्पूर्ण श्रेय और सर्वाधिकार उन्हें ही सादर समर्पित है।

नर्मदा-तट;
श्रीगुरुपूर्णिमा,
सं० २००४.

—महेशप्रसाद।

श्री शंकराचार्य-वाक्सुधा

(प्रथम भाग)

[१]

ईश्वर-प्राप्ति की वासना जब तक दृढ़ न होगी तब तक अनेकों वासनाओं के चक्कर में, पतङ्ग की भाँति, न जाने कहाँ-कहाँ उड़ते फिरोगे।

[२]

अनेक वासना-सूत्रों को इकट्ठा करके भगवद्वासना-रूपी मोटी रस्सी तैयार करो और उसीके सहारे भव-कूप से बाहर निकल आओ।

[३]

यदि कोई पाप कर्म बन गया हो तो परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवन्, हमारा इन्द्रियों पर अधिकार नहीं है; क्षमा किया जाय, भविष्य में ऐसा नहीं होगा।

[४]

पाप और पुण्य में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र-दृष्टि से अपने अधिकार के अनुसार चेष्टा पुण्य है और शास्त्र-दृष्टि से अनधिकार चेष्टा पाप है।

[५]

किसीने एक महात्मा से कहा—"महाराज, आप बड़े

अच्छे महात्मा हैं।" महात्मा ने कहा—"हम अच्छे हैं तो तुम्हारे किस काम के ? तुम अच्छे बनो तो ठीक है।"

[६]

गुरु और गोरू * शब्दों में थोड़ा ही अन्तर है। गुरु की शिष्य के कल्याण पर दृष्टि रहती है और गोरू केवल अपनी भोजन-सुविधा से ही सम्बन्ध रखता है। जो गुरु शिष्यों से केवल अन्न-वस्त्र और भेंट-बिदाई से ही सम्बन्ध रखते हैं, उनकी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न नहीं करते और उन्हें परमार्थ-दर्शन नहीं करा सकते वे शिष्यों के गुरु नहीं, गोरू ही हैं। शिष्यों को चाहिए कि अपने गोरुओं के चारा-पानी का प्रबन्ध तो अवश्य करें, किसीके लिए अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध करना बुरा नहीं है; परन्तु अपने कल्याण के लिए मन्त्रणा (सलाह) उसी-से लेना चाहिए जिसमें गुरु के सब लक्षण विद्यमान् हों। लक्षण-सम्पन्न गुरु की खोज करनी चाहिए।

[७]

शास्त्र में गुरु के दो प्रधान लक्षण लिखे हैं:—श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता। लिखा है—"तद्विज्ञानार्थस गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्", तत्पदवाच्य जो ब्रह्म है उसके जानने के लिए ऐसे गुरु के पास जावे जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हों; क्योंकि श्रोत्रिय अर्थात् वेद-वेदार्थ के जाननेवाले होंगे तो शिष्य की शंकाओं का समाधान कर सकेंगे और ब्रह्मनिष्ठ होंगे तो तर्क अस्त होने पर यथार्थ बोध (तत्त्व का अनुभव) भी करा सकेंगे। इसीलिए गुरु को दो विशेषण-युक्त होना चाहिए।

---

* गोरू = गाय, बैल, आदि पालतू पशु।

किसान वही अच्छा माना जाता है जिसका स्वयं का हल-बैल हो और बोने के लिए घर में बीज भी हो; क्योंकि वही पड़ती बंजर को ठीक से जोतकर क्षेत्र तैयार करके समय पर बीज वपन कर सकता है। यदि घर में बीज न हुआ तो बीज का प्रबन्ध करते-करते ज़मीन फिर बिगड़ जायगी। इसी प्रकार गुरु यदि केवल श्रोत्रिय हैं तो वे शिष्य की शंकाओं और तर्कों का समाधान तो कर देंगे; परन्तु तर्क अस्त होने पर यथार्थ बोध नहीं करा सकते; क्योंकि उनको स्वयं तत्त्व-बोध नहीं है। फिर थोड़े ही काल में शिष्य के अन्तःकरण में नये तर्कों का उदय होगा। इस प्रकार एक बार बनाया हुआ क्षेत्र पुनः बेकाम हो जायगा। इसलिए सफल गुरु वही है जो शिष्यों की शंकाओं का यथार्थ समाधान देकर उसके तर्कों का अन्त करके परम लक्ष्य बोध करा सके। इसीलिए गुरु के लिए शास्त्रों में श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता—ये दो प्रधान विशेषण कहे गये हैं।

[८]

आजकल लोग परमात्मा को ही अन्धा बनाते हैं। साधारण सांसारिक लोगों की आँख बचाकर कुत्सित कर्म करते हैं और सोचते हैं कि कोई नहीं जानता। सर्वान्तरात्मा जगन्नियन्ता भगवान् तो सर्वत्र हैं, सभीके सब प्रकार के व्यवहारों को हर समय देख रहे हैं; उनकी दृष्टि से बचाकर कभी कोई काम नहीं किया जा सकता। इसलिए यदि वास्तव में अच्छे बनना चाहते हो तो ऐसा प्रयत्न करो कि उनकी दृष्टि में कोई कुत्सित कर्म न आने पावे। संसारियों की दृष्टि में अच्छे बने रहना और चुपचाप कुत्सित कर्म करते जाना दूसरों को धोखा देना नहीं, अपने आपको धोखा देना है। इससे मनुष्यों का घोर पतन होता है।

[९]

पतली रस्सी से केवल एक लोटा जल ही खींचा जा सकता है; परन्तु यदि वैसी कई रस्सियाँ बटकर एक मोटा रस्सा बना लिया जाय तो उससे बड़ी-बड़ी बालटियाँ खींची जा सकती हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपनी छोटी-छोटी वासनाओं के द्वारा थोड़ा-थोड़ा लौकिक सुख प्राप्त किया करता है। यदि उन्हीं अनेकों वासनाओं को मिलाकर भगवद्वासना-रूपी मोटी रस्सी तैयार कर ली जाय, तो महान् आनन्द की प्राप्ति सहज ही हो सकती है।

[१०]

अनेकों इच्छाओं का संग्रह करके एक प्रबल इच्छा प्रवाहित करो। वह इतनी बलवती होगी कि उसकी गति को रोकनेवाला (उसका बाधक) स्वयं उसमें बहकर उसका सहयोगी हो जायगा।

[११]

जैसी वासना धन के लिए है, पुत्र के लिए है, इष्ट मित्र और अन्न-वस्त्र के लिए है वैसे ही यदि परमात्मा के लिए हुई तो इतनी कमजोर वासना से परमात्मा कैसे मिलेगा? स्त्री-धन-पुत्र-इष्टमित्रादि से परमात्मा बहुत विशिष्ट है; इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए उसी कोटि की उत्कृष्ट वासना उत्पन्न करनी पड़ेगी तब वह मिलेगा; साधारण वासना से काम नहीं चलेगा।

[१२]

बछड़े का दुग्ध-पान का भाव व्यक्त होते ही वात्सल्य के कारण जिस प्रकार गाय के सर्वांग से आकृष्ट हो दुग्ध स्तन में एकत्रित होकर उसे प्राप्त होता है, उसी प्रकार भक्त के भावों से

आकृष्ट होकर व्यापक परमात्मा की शक्ति प्रतिमा आदि में केन्द्रित होकर उसे प्राप्त होती है।

[१३]

देव-प्रतिमा में देवत्व (दैवी शक्ति) लाने के लिए और उसके द्वारा उपासकों के कल्याण के लिए चार बातें प्रधानतः आवश्यक हैं; यथाः—

(१) देवताओं का स्वरूप जैसा शास्त्रों में वर्णन किया गया है ठीक उसीके अनुसार प्रतिमा का होना;

(२) शास्त्रीय विधानों द्वारा प्रतिमा की प्रतिष्ठा किया जाना;

(३) प्रतिष्ठा होने के पश्चात् यथाविधि जप, पाठ, पूजन, हवन, आदि द्वारा देव-मूर्त्ति की पूजा होना; और

(४) देव-स्थान में शास्त्र-विरुद्ध व्यवहार और निर्माता की इच्छा के विरुद्ध कार्यों का न होना।

इन चारों बातों का जितनी उत्तम रीति से पालन होता है उतनी ही अधिक दैवी शक्ति-सम्पन्न देव-प्रतिमाएँ होकर उपासकों का उतना ही अधिक कल्याण होता है; और, इन बातों की जितनी उपेक्षा होती है उतनी ही दैवी कला-हीन मूर्त्तियाँ हो जाती हैं; और तब उपासकों का उतना ही अमंगल होने लगता है।

[१४]

पूजक अपनी तप-शक्ति, भावना और पूजन की विशेषताओं द्वारा देव-प्रतिमाओं में अधिकाधिक दैवी शक्ति की वृद्धि कर सकता है और उसीके द्वारा अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

[१५]

जहाँ देव-मूर्त्तियों में विधिवत् अर्चन, पूजन, वंदन, आदि होता है वहाँ सदा ही मंगल रहता है, सुख-संपदा की वृद्धि होती है और सब प्रकार से अभ्युदय प्राप्त होता है।

[१६]

जहाँ देवालयों में सविधि पूजन की अवहेलना होती है वहाँ रोग, दुर्भिक्ष, राजा-प्रजा की अवनति और सर्व प्रकार से अनिष्ट होता है।

[१७]

जिन देवालयों में मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा द्विज जातियों द्वारा की गई है उनमें अन्त्यजों के मन्दिर-प्रवेश से स्पर्श-दोष के कारण मूर्त्ति और मन्दिर दूषित हो जाते हैं। शास्त्र में प्रमाण मिलते हैं कि इस प्रकार प्रतिमाओं के दूषित होने से उनमें दैवी शक्ति का ह्रास हो जाता है और इन देवत्व-विहीन प्रतिमाओं में भूत, प्रेत आदि का वास हो जाता है तथा इन भूत-प्रेत-निवसित प्रतिमाओं के पूजन से देश में भूकम्प, अग्नि-प्रकोप, रोग, दुर्भिक्ष, राजा-प्रजा का क्षय, आदि अनिष्ट होते हैं।

[१८]

आजकल जो अन्त्यज-मन्दिर-प्रवेश का प्रवाह चलाया जा रहा है वह देश के सभी वर्गों के लिए अकल्याणकर है। धर्मानुरागी प्रभावशील पुरुषों को राष्ट्र के सर्वविध कल्याण की दृष्टि से इसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। वेद-शास्त्र के विरुद्ध इस आन्दोलन से देवालयों को भ्रष्ट कर देश में दैवी शक्ति

का ह्रास और आसुरी शक्ति की वृद्धि होगी और वह राष्ट्र के पतन का कारण बनेगी। आस्तिक समाज को चाहिए कि अपने और सबके कल्याण के लिए इसका उचित प्रतिकार करें और अभी तक दूषित हुए मन्दिरों की शास्त्र-विधानों से पुनः प्रतिष्ठा कर विधिवत् पूजन आदि की व्यवस्था करें। परिस्थिति-वश यदि आस्तिक जन ऐसा करने के लिए असमर्थ हों तो उन्हें कम-से-कम इतना तो अवश्य करना चाहिए कि ऐसे दूषित मन्दिरों की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा होने तक उनसे अपना संबन्ध-विच्छेद कर लें और देव-दर्शन, पूजन, आदि के लिए वहां न जावें; क्योंकि इस प्रकार दूषित प्रतिमाओं के पूजन से लाभ के बदले हानि की ही संभावना रहती है। किन्तु, यह निश्चय रहे कि अपने सामने देव-मन्दिरों की मर्यादा भंग होते देखकर भी यदि आस्तिक-समाज चुप रहता है तो उसे ही इस घोर पाप का फल भोगना पड़ेगा।

[१९]

द्विज जातियों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तियों के पूजनादि का अधिकार अन्त्यज आदिकों को नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्र में अन्त्यज और शूद्रों के कल्याण की अवहेलना की गई है। केवल भगवन्नाम-स्मरण और कीर्तन मात्र से ही कितनों को परमगति प्राप्त होने के प्रमाण पुराणों में पाये जाते हैं। और, धर्म-शास्त्र का यह निदान है कि द्विज जातियों को स्नान, संध्या, आदि करके पवित्रता-पूर्वक जप-तप करते हुए शास्त्रोक्त पूजन-सामग्री आदि से सम्पन्न होकर देव-पूजन करने से जिस पुण्य की प्राप्ति होती है वही पुण्य अन्त्यज आदिकों को मन्दिर के कलश, स्तूप और ध्वज को सभक्ति प्रणाम करने मात्र से सहज में ही प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्म-शास्त्र में

सभीके कल्याण के लिए उपाय बताये गये हैं। अधिकारी-भेद से किसीके उपाय सरल हैं और किसीके कठिन। शास्त्र की आज्ञा मानकर अपने अधिकार के अनुसार आचरण करने से ही कल्याण हो सकता है। मनमाना दुराग्रह करके वेद-शास्त्र की अवहेलना करने से किसीका कल्याण नहीं होगा; इसलिए अपने कल्याण की कामना करनेवाले को सतर्क होकर करने योग्य कार्य करना चाहिए।

[२०]

मृत्यु से डरो मत; क्योंकि एक दिन अवश्य ही मरना है। जितने क्षण जी रहे हो सतर्क होकर कार्य करो। कहीं कोई ऐसा कार्य न हो जाय कि मरते समय उसके लिए पश्चात्ताप हो।

[२१]

सच्चा मरना वही है कि फिर जन्म न हो। स्वधर्माचरण-रत भगवद्-भक्तों का मरण ऐसा ही होता है।

[२२]

गो-रक्षा का प्रश्न हिन्दू-धर्म, जीवन और समाज-रक्षा का प्रश्न है। इसकी अवहेलना अधिक समय तक होना देश के कल्याण में घातक है। प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि गो-पालन और गो-रक्षण के लिए तत्पर रहे और भारतीय शासन-सत्ता का भी उतना ही कर्त्तव्य है कि गो-वंश की उन्नति के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करे।

———

कल्याण-पथ

[भगवत्पूज्यपाद श्रीआचार्यचरण ने पीठ-भवन, श्रीज्योतिर्मठ, में प्रथम चातुर्मास्य व्रत करते हुए ता: ६-६-४४ को समस्त धार्मिक प्रजा के कल्याणार्थ निम्न-लिखित सूक्ष्म पवित्रादेश का प्रकाशन किया था।]

यह अनुभव-सिद्ध निर्विवाद सिद्धान्त है कि सूक्ष्म दैवी सत्ता स्थूल जगत की नियामक एवं आधार है—देवतागण बुद्धि के प्रेरक, कर्मों के संचालक और उनके फलदाता हैं। अतएव शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी प्रकार की उन्नति के लिए यह परमावश्यक है कि मनुष्य केवल अपनी बुद्धि के सहारे ही काय न करे, अपितु अनन्त-शक्ति-सम्पन्न दैवी जगत की कृपा प्राप्त करने के लिए किसी देवता को अपना इष्ट बनाकर शास्त्र-विहित उनकी उपासना करे। ऐसा करने से कुछ ही समय में आराध्य देव प्रसन्न होकर उपासक के सर्व मनोरथ पूर्ण करेंगे।

धर्म-शास्त्र में देवताओं की उपासनाओं के ऐसे-ऐसे विधानों का निर्देश है जिनके द्वारा दैवी शक्ति प्राप्त करके मनुष्य कठिन-से-कठिन कार्य भी सुगमता से सम्पन्न कर सकता है। मनुष्य के लिए असम्भव कुछ भी नहीं है—यदि उसके अन्तः-करण में ईश्वर के प्रति विश्वास और श्रद्धा, भक्ति तथा दृढ़ उपासना की क्षमता हो। अतएव प्रत्येक मनुष्य का यह परम

कर्त्तव्य है कि वह अपनी लौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए अपनी शक्ति भर दैवी उपासना में संलग्न रहे। यही है सूत्र रूप से समस्त उन्नति का मूल उपाय—विश्व का वास्तविक कल्याण-पथ।

वास्तविक विजय

[सन् १९४५ के सितम्बर मास में जिस समय हिटलर को परास्त कर धुरी-राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करके मित्रराष्ट्र विजय की खुशियाँ मना रहे थे और साथ-ही-साथ गुप्त रूप से आपस में एक दूसरे से शंकित रहकर उनकी युद्ध की तैयारियाँ बराबर जारी थीं, समस्त विजयी राष्ट्रों के गण्यमान्य व्यक्ति विजय पर प्रसन्नता-पूर्वक अपने मत प्रदर्शित कर रहे थे और समाचार-पत्रों में विजय पर लेख-मालाओं का बाहुल्य था, ऐसे समय में पत्रकारों की विशेष प्रार्थना पर पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु महाराज ने निम्न-लिखित पवित्रादेश का प्रकाशन कर सभ्य संसार को नवीन प्रकाश प्रदान किया।

इस उपदेश में भौतिक विजय का अस्थायित्व-निरूपण एवं स्थायी विजय के लिए पथ-प्रकाशन होकर 'वास्तविक विजय' का रहस्योद्घाटन हुआ है।]

विजय तो वास्तव में वही है जिसके अनन्तर पराजय की शङ्का न हो। बाह्य (व्यावहारिक) शत्रुओं का दमन करने से वास्तव में कोई स्थायी विजयी नहीं हो सकता; क्योंकि उससे शत्रुओं का स्थायी दमन नहीं होता। यथार्थ विजय तो आन्तरिक शत्रुओं पर अधिकार पाने से होती है। आन्तरिक-शत्रु-निग्रह ही स्थायी रूप से बाह्य शत्रु-दमन का एक-मात्र उपाय है; क्योंकि आन्तरिक शत्रु ही बाह्य शत्रुओं का उत्पादन करते हैं।

आन्तरिक शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। यही आन्तरिक षड्रिपु बाह्य जगत में किसीको

निमित्त बनाकर शत्रु बना लेते हैं; इसलिए यदि कोई अपने समस्त शत्रुओं पर विजय पाकर सुख-शान्ति का अनुभव करना चाहता है तो उसे चाहिए कि अपने समस्त बाह्य (स्थूल) शत्रुओं का उद्गम-स्थान—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य (इन छः सूक्ष्म शत्रुओं)—का छेदन करे। बिना इस षडरिवर्ग पर विजय पाये बाह्य शत्रुओं का समूलोच्छेद नहीं हो सकता—यह ध्रुव है।

यह अनुभव-सिद्ध है कि जिसने इन सूक्ष्म आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली उसके बाह्य शत्रुओं का उद्गम-केन्द्र विनष्ट हो जाता है और उसके समस्त शत्रुओं का समूलोच्छेद हो जाता है। फिर उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता और वही वास्तव में सच्चा विजयी माना जाता है। उसीके लिए सच्चे स्थायी सुख-शान्ति का भाण्डार खुल जाता है।

जो राष्ट्र शत्रुओं से सर्वथा मुक्त होकर विश्व में सुख-शान्ति स्थापित करना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है कि उसके राष्ट्र-निर्माता अथवा कर्णधार अपने आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय प्राप्त किये हुए हों, अन्यथा यही चरितार्थ होता है कि—'स्वयं नष्टः परान्नाशयति' एवं 'स्वयं भ्रष्टः परान्भ्रंशयति'। पिछली कई शताब्दियों का विश्व-इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रबल राष्ट्रों के सूत्रधारों ने अपने आन्तरिक काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि से प्रेरित होकर अनेकों बार पृथ्वी को रक्त-रञ्जित किया है। यह पाशविकता है। जिनपर राष्ट्र-संचालन का भार हो उन्हें विशेष रूप से विचार-शक्ति से काम लेना चाहिए। अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि भावों के आवेश में बहकर समस्त संसार को त्रस्त करना महत्त्वाकांक्षा और मानवता नहीं है।

बाह्य शत्रुओं का दमन कहाँ तक किया जा सकता है? एक को दमन करके दूसरे से शङ्कित होकर उसके दमन की तैयारी करते रहना और इस प्रकार स्वयं उद्विग्न रहते हुए विश्व की सुख-शान्ति को सदैव शङ्कित रखना, यह तो शत्रु-दमन एवं विजय का कोई लक्षण नहीं है। और, जब तक आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त न की जायगी तब तक यही हाल रहेगा। इसलिए, यह अत्यन्त आवश्यक है कि राष्ट्र के कर्णधार अपने आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय प्राप्त किये हुए हों। ऐसे यथार्थ विजयी सूत्रधार ही समाज, राष्ट्र एवं विश्व की स्थायी सुख-शान्ति का पथ-प्रदर्शन सफलता-पूर्वक कर सकते हैं।

काम, क्रोधादिकों पर विजय पाना अत्यन्त कठिन नहीं है। बिना समझे ही लोग इसे असाध्य मान बैठते हैं। बहुधा लोगों की यह धारणा हो गई है कि निवृत्ति-मार्गावलम्बी महात्मा ही षडरिवर्ग पर विजय पा सकते हैं; किन्तु यह धारणा केवल अज्ञान-मूलक ही है। निवृत्ति-मार्गी तो काम, क्रोधादिकों के मूल कारण (सांसारिक व्यवहार) को ही तिलाञ्जलि दे देता है। उसके लिए तो इनपर विजय और पराजय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। षडरिवर्ग पर विजयी तो वही माना जा सकता है जो व्यवहार में बराबर प्रवृत्त रहे; पर काम-क्रोधादि उस-पर अपना स्वत्व न जमा सकें। शत्रु को आघात कर सकने का अवसर सदा प्राप्त रहे; किन्तु वह असमर्थतावश आघात न कर सके; तभी तो माना जायगा कि वह दबा हुआ है और पराजित है। व्यवहार में प्रवृत्ति (शास्त्रोक्त प्रवृत्ति) षडरिवर्ग पर विजय पाने में बाधक नहीं होती।

संसार के समस्त शत्रुओं का उद्गम-केन्द्र, सूक्ष्म-शत्रु-पुञ्ज, पर विजय पाने के लिए वर्षों की भौतिक तैयारी करके रण-चण्डी

को जागृत करने और संसार को जीवन-मरण के बीच अशान्त बनाये रखने की आवश्यकता नहीं है; इसके लिए केवल विचार-शक्ति से ही काम लेकर समदर्शी हो जाने की आवश्यकता है।

समदर्शी उसे कहते हैं जो ठीक-ठीक देखता है—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखनेवाला समदर्शी कहलाता है—वस्तु के स्वरूप में और उसकी दृष्टि में भेद नहीं आने पाता, सर्वथा समत्व या सामञ्जस्य रहता है। उसकी दृष्टि में पदार्थ का यथार्थ अनुभव होता है, अर्थात् उसे भ्रम नहीं होने पाता। संसार मिथ्या है तो वह उसमें सत्य का आरोप नहीं करता; ब्रह्म सत्य है तो वह उसे ही सत्य मानता है। संसार का मिथ्यात्व और आत्मा का नित्यत्व जब मनुष्य को पुष्ट हो जाता है तब वह समदर्शी हो जाता है। और, तब वह समस्त पदार्थों को उनके वास्तविक स्वरूप में देखता है।

संसार के मिथ्यात्व का अर्थ है—परिवर्तनशील होने के कारण उसकी क्षण-भंगुरता। इसको समझने के लिए कोई अधिक पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है—सभीको प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, वियोगान्त है—सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल सभी वस्तुएँ परिवर्तन-शील हैं। प्रत्येक जीव प्रत्यक्ष देखता है कि उसके सामने कितने ही जीव उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। सभी-को यह विदित है कि मेरे पूर्वज नहीं रहे और एक दिन मैं भी नहीं रहूँगा। यही तो संसार की क्षण-भंगुरता है। इसे समझने के लिए बहुत प्रयास की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य इसे प्रत्यक्ष अहर्निश अनुभव कर रहा है; परन्तु फिर भी विचार नहीं करता।

जिसने एक बार सतर्क होकर अच्छी तरह मनन करके विचार-पूर्वक संसार की क्षण-भंगुरता अपने हृदय में पुष्ट कर

ती, वही आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय प्राप्त कर लेता है; क्योंकि जिस मनुष्य को समस्त लौकिक प्रपञ्च की क्षण-भंगुरता पुष्ट हो गई है उसे किसी वस्तु से लोभ और मोह नहीं हो सकता; क्योंकि वह जानता है कि जिसका लोभ और मोह आज करेंगे कल उसका स्वयं परिवर्तन हो जाना है; इसलिए व्यर्थ लोभ-मोह करके उसके परिणाम में पश्चात्ताप और अशान्ति ही हाथ लगेगी; इसलिए उसके अंतःकरण में लोभ और मोह अंकुरित ही नहीं होते। इनका बीज ही नष्ट हो जाता है और लोभ-मोह निर्बीज हो जाने से मात्सर्य भी निर्मूल हो जाता है। वह किसीसे मत्सर भी नहीं करता। किसी लौकिक वैभव, धन, पुत्र, विद्या, आदि का उसे मद भी नहीं हो सकता। लोभ, मोह, मद और मत्सर न रहने से उसमें क्रोध स्वभावतः निर्मूल हो जाता है। ऐसे मनुष्य की कामनाएँ संकुचित होकर भगवत्परायण हो जाती हैं और वह कर्त्तव्य-बुद्धि से ही समस्त व्यवहार सम्पादन करता है। उसका व्यवहार स्वाभाविक ही शास्त्रोक्त होता है और उसका जीवन संसार में कमल-पत्र की भाँति असंग और निर्मल रहता है। ऐसा समदर्शी क्रियाशील मनुष्य ही षडरिवर्ग पर विजयी माना जाता है—ऐसे मनुष्य के बाह्य शत्रु रह ही नहीं जाते—समस्त प्रकृति पर उसकी एकरसता शासन करती है—उसके शान्ति-साम्राज्य को भंग करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा ही समदर्शी महान् विजेता विश्व की स्थायी सुख-शांति का सफल पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

अस्तु! आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय पाना ही परमोत्कृष्ट वास्तविक विजय है, और इसी महान्-विजय के लिए मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिए।

वासनाध्वंसो मोक्षः

[इटावा में एक बार एक पण्डितजी ने आकर पूछा—"भगवन् ! श्रुति कहती है 'त्यागेनैकेन तत्त्वमानशुः' तो इसमें शंका होती है कि समस्त पदार्थ अस्मद् पदार्थ से (अहं पद वाच्य आत्मा से) सदा ही भिन्न हैं, अर्थात् त्यक्त हैं; फिर भी तत्त्व का दर्शन नहीं होता ? इसलिए इस श्रुति की सार्थकता क्या है ?" श्रीचरण ने पण्डितजी को इस प्रकार समझाया ।]

समस्त लौकिक पदार्थ आत्मा से सदा भिन्न रहने पर भी जीव ने कुछ पर अपना स्वत्व (अधिकार) मान लिया है। जिनपर जीव ने अपना अधिकार मान लिया है उनके संरक्षण और संवर्द्धन में मोह के कारण वह सुख अनुभव करता है और उनके पराभाव और विनाश में दुःख मानता है। जिन वस्तुओं पर जीव अपने अधिकार की कल्पना नहीं करता उनसे सदा वह निर्लेप ही रहता है—न उनके संवर्द्धन में उसे सुख और न उनके पराभव में उसे दुःख का ही अनुभव होता है—इसलिए स्पष्ट है कि जीव ने जो अपना अधिकार वस्तुओं पर मान लिया है वही उसके ममत्व (मोह) का कारण और वही उसके सुख-दुःखानुभव का मूल कारण है।

इसी ममत्व-सूत्र अथवा कल्पित-स्वत्व-सूत्र (अधिकार-सूत्र) द्वारा ही जीव अपना सम्बन्ध इतर पदार्थों से स्थापित कर लेता है और इन पदार्थों से उसका सदा भौतिक पार्थक्य रहने पर भी वह इन्हें (इसी सम्बन्ध-सूत्र द्वारा) ग्रहण किये रहता है और इस प्रकार अनेकों पदार्थों को भावना द्वारा ग्रहण करने से उनके प्रति वासनायें जागत हो जाती हैं और जीव

इन्हींके चक्कर में पड़कर अपने वास्तविक स्वरूप—आत्म तत्त्व-से विमुख हो जाता है। इसी मानसिक ग्रहण के त्याग का आदेश इस श्रुति में किया गया है। अर्थात् जीव ने जो अनन्त सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध जोड़कर अपना स्वत्व (अधिकार) उनपर मान लिया है उसीको त्याग देने से ही तत्त्व की प्राप्ति होती है। यह भाव है। त्याग से यहाँ तात्पर्य है 'ममत्व-त्याग'—वस्तुओं में अपने कल्पित स्वत्व का विसर्जन।

यह जो ममत्व संसार के अनेकों पदार्थों में हो गया है इसका मूल कारण है अन्तःकरण की सद्सत् वासनाएँ। जब तक वासनाएँ संकुचित नहीं होंगी तब तक ममत्व-विसर्जन नहीं हो सकता; इसलिए वस्तुतः त्याग से यहाँ वासना-त्याग का ही तात्पर्य है; क्योंकि समस्त सांसारिक व्यवहार का मूल कारण अन्तःकरण की वासनाएँ ही हैं। जीव की समस्त वासनाएँ शान्त होने पर ही आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। यही इस श्रुति-वाक्य का तात्पर्य है। मुक्तिकोपनिषत् में भी यही लिखा है कि—

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥

अर्थात्—वासना-युक्त मन के द्वारा ही यह अज्ञानी जीव बन्धन में है और सम्पूर्ण वासना-त्याग से ही मुक्त हो जाता है। इसीलिए वासना-ध्वन्स को मोक्ष माना गया है।

निर्वासनिक अन्तःकरण में सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मतत्त्व, स्थिर जलाशय में सूर्य के प्रतिबिम्ब की भाँति स्पष्ट अंकित हो जाता है और इसीकी आनन्दानुभूति में निमग्न रहता हुआ जीव जीवन-मुक्ति का सुख अनुभव करता है और

'शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः' आदि लक्षण उसमें स्वाभाविक ही घटने लगते हैं। इस प्रकार समदर्शी जीवनमुक्त पुरुष प्रारब्ध-क्षय होने पर विदेह मुक्ति लाभ करता हुआ उसी प्रकार परब्रह्म में विलीन हो जाता है जिस प्रकार घट के विदीर्ण होने पर घटाकाश महाकाश में लय हो जाता है।

न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति अत्रैव समविलीयन्ते।

अर्थात्—ऐसे जीवनमुक्त महात्मा का शरीर छूटने पर उसके प्राण अन्यत्र गमन नहीं करते—यहीं लय हो जाते हैं—उसकी आत्मा विश्वात्मा में और प्रकृति महाप्रकृति में लय हो जाती है। परन्तु, इसका मूल कारण है वासना-त्याग, इसके लिए मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिए, यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

वासना-ध्वन्स कैसे हो ?

[पूर्वोपदेश का शेषांश]

वासनाक्षय के सम्बन्ध में लिखा है—

जन्मान्तर शताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना ।
सा चिराभ्यास-योगेन बिना न क्षीयते क्वचित् ॥ (मु० उ०)

पिछले सैकड़ों जन्मों से सांसारिक वासनाओं का अभ्यास पड़ा हुआ है; इसलिए मिथ्या होते हुए भी बिना दीर्घ काल तक अभ्यास किये उनका क्षय नहीं होता । और, अभ्यास के सम्बन्ध में लिखा है—

न शक्यते मनो जेतुं बिना युक्तिमनिन्दताम् ।

युक्ति के बिना (वासना-रूपी) मन को नहीं जीता जा सकता । युक्ति प्राप्त होती है सद्गुरुओं के पास से । इसके लिए सद्गुरुओं की खोज करके उनसे मनोनिग्रह की युक्ति प्राप्ति करो और बराबर उसका अभ्यास करो। जन्म-जन्म की काई निकल जायगी और अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप की प्राप्ति होकर मनुष्य-जीवन कृत-कृत्य हो जायगा ।

वासनायें शुभ और अशुभ दो प्रकार की होती हैं । लिखा है—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ति वासनासरित् । (मु० उ०)

वासना-रूपी नदी शुभ और अशुभ दो मार्गों से बहती है, कभी शुभ मार्ग से और कभी अशुभ से । तमोगुण-प्रधान अन्तःकरण होने पर वासना-रूपी नदी अशुभ मार्ग से बहती है और सत्व-गुण-प्रधान होने पर शुभ मार्ग से । मनुष्य को

चाहिए कि वह अशुभ मार्ग में भगवन्नाम-रूपी बाँध बाँध दे। वासना-रूपी नदी के अशुभ मार्ग में भगवन्नाम-रूपी बाँध बाँधने का तात्पर्य यह है कि जिस समय अन्तःकरण में तमोगुण बढ़े और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आदि से प्रेरित होकर अविहित भावनाएँ उठें उस समय भगवान् का कीर्तन अथवा जप प्रारम्भ कर देना चाहिए अथवा भजन करने लगना चाहिए या रामायण, गीता, आदि का पाठ करने लगना चाहिए। इस प्रकार भगवन्नाम या भगवद्गुण-गान के सहारे अशुभ विचारों को रोकना चाहिए। इस प्रकार भगवन्नाम-रूपी बाँध बाँधने से वासना-रूपी नदी का प्रवाह अशुभ मार्ग से रुक जायगा और तब उसके लिए बहने को केवल एक शुभ मार्ग ही बचेगा, अर्थात् फिर केवल शुभ वासनाएँ ही अन्तःकरण में उठेंगी और उनके अनुसार शुभ कर्म ही होंगे और धीरे-धीरे अशुभ वासनाओं का अन्तःकरण में उठना और उसके फलस्वरूप अशुभ कर्मों का होना सर्वथा बन्द हो जायगा। इस प्रकार अशभ वासनाओं का क्षय हो जायगा।

अब पूर्णतया वासना-क्षय (वासना-ध्वंस) करने के लिए यह आवश्यक है कि शुभ वासनाओं का भी दमन किया जाय। इसके लिए सुन्दर उपाय यह है कि शुभ वासनाओं को और उनके द्वारा होनेवाले सत्कर्मों को भगवान को अर्पण किया जाय। सद्वासना-रूपी नदी भगवत्-शरण-रूपी महासागर में मिलकर तद्रूप ही हो जायगी। फिर उसका नाम-रूप नष्ट हो जायगा और उसकी कोई प्रथक सत्ता नहीं रह जायगी। अर्थात् शुभ-वासनाओं और उनके द्वारा होनेवाले शुभकर्मों को भगवान् को अर्पित करने का अभ्यास हो जाने से मन में भगवद्-वासना का ही प्राधान्य हो जायगा और धीरे-धीरे शुभ वासनाओं का

अन्तःकरण में उठना भी कम हो जायगा और अभ्यास करते-करते शुभवासनारूपी नदी भगवद्वासना-रूपी अखण्ड स्रोत में बदल जायगी। उस समय शुभाशुभवासना-रहित अन्तःकरण में सच्चिदानन्दमय अखण्ड बोध उदय हो जायगा और जीव अपने वास्तविक स्वरूप आत्मतत्त्व को प्राप्त कर कृतार्थ हो जायगा।

इस प्रकार, वासना-ध्वन्स करने के लिए असद्वासनाओं को भगवन्नाम के सहारे सद्वासनाओं के द्वारा रोका जाय और सद्वासनाओं को भगवदर्पण कर दिया जाय। व्यावहारिक मनुष्यों के लिए यही वासना-त्याग का सहज उपाय है। निष्काम कर्म-योग का भी यही तात्पर्य है।

कर्म-योगी कैसे बने ?

['कर्म-योगी कैसे बने' और 'यौगिक सफलता की कुंजी' ये दो उपदेश श्रीचरण के प्रयाग में दिये गये एक ही दिन के उपदेश के सारांश हैं। इनमें वेद के कर्म, उपासना और ज्ञान-काण्डों के अनुसार योग की संक्षिप्त मीमांसा करके कर्म-योग पर विशेष प्रकाश डाला गया है और अभ्यासियों का योग-मार्ग में सफलता-प्राप्ति के लिए पथ-प्रकाशन हुआ है।]

वेद के कर्म-काण्ड के अनुसार 'कर्मसु कौशल' को ही योग कहते हैं। कर्म-काण्ड का अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर अर्थात् फलासक्ति-रहित होकर कर्म करना है; इसलिए निष्काम कर्म ही कर्मसु कौशल है; यही 'अनासक्ति कर्म' है और यही 'कर्म-योग' कहलाता है। कर्म करते हुए कर्म-बन्धन से मुक्त होना ही इसका स्वरूप है, और जो इस स्वरूप में स्थिति पा चुका है वही कर्म-योगी है। कर्म-योग की विधि बताते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं:—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

अर्थात्—"हे अर्जुन, तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, अर्थात् जो कुछ भी लौकिक और पारलौकिक कार्य करता है वह सब मेरे अर्पण कर।" इसका तात्पर्य यही है कि जो कुछ शुभ कर्म किये जायँ वे भगवान् को अर्पण किये जायँ। अशुभ कर्म करके भगवान को अर्पण करने का विधान नहीं है। जब भगवान् कहते हैं कि सब कर्म मुझे अर्पण करो, तब वे यही आशा करते हैं कि मुझे अर्पण करने के लिए कोई अशुभ कर्म नहीं करेगा;

क्योंकि यह तो साधारण बात है कि अपने से बड़ों को और पूज्य जनों को सदैव अच्छी वस्तु ही अर्पण की जाती है। अर्पण करके पहले देख ली जाती है कि कहीं खराब तो नहीं है। ऐसा कोई नहीं करता कि जो हो—चाहे खराब ही वस्तु हो—वही अर्पण कर दो। जब कोई मद्यप भी किसी साधु महात्मा को भोजन कराता है तब वह मद्य लाकर सामने नहीं रखता। वह जानता है कि यह निषिद्ध पदार्थ है। जो उचित है वही अर्पण करता है। जब एक मद्यप भी अर्पण के समय इतना विधि-निषेध का ध्यान रखता है तो फिर एक भक्त अपने सर्वस्व—परमात्मा—को अर्पण करने के लिए निषिद्ध कर्म कैसे कर सकता है ?

जब कभी कोई किसीसे कुछ वस्तु—फल, साग, आदि—मँगाता है तो यही आशा करता है कि अवश्यमेव अच्छी ही लायगा, यह कोई नहीं सोचता कि सड़े-गले फल और सूखी साग ले आयगा। इसी प्रकार जब भगवान् आज्ञा देते हैं कि 'यत्करोषि……………तत्कुरुष्व मदर्पणम्' तो यही आशा करते हैं कि जीव शुभ कर्म करके ही उनको अर्पण करेगा और अशुभ कर्म करके अर्पण करने में संकोच रहेगा; इसलिए अशुभ कर्म करेगा ही नहीं। शुभ कर्म का अर्थ है सतो-गुण-वर्द्धक, वेद-शास्त्र द्वारा निर्धारित, भगवान् की आज्ञा के अनुसार कर्म करना।

'यत्करोषि' का अर्थ है 'यत्कर्म करोषि' न कि 'यत्कुकर्म करोषि' और कर्म देश-काल-पात्रानुसार भिन्न-भिन्न होते हैं जिनका ज्ञान शास्त्र-द्वारा होता है; क्योंकि भगवान् कहते हैं "ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि"। शास्त्र-विधान जानकर ही कर्म करना चाहिए; इसलिए 'यत्कर्म करोषि' का

अर्थ हुआ 'यच्छास्त्रविहित कर्म करोषि'। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'यत्करोषि......तत्कुरुष्व मदर्पणम्' का तात्पर्य यही है कि जो कुछ करो भगवदाज्ञानुसार—शास्त्र-विहित अर्थात शास्त्र-विधान के अनुसार करो और उसके फल में आसक्ति त्याग कर उसे भगवदर्पण कर दो; क्योंकि —

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गीता-५-१०)

अर्थात्—"जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और फलासक्ति त्यागकर परमात्मा के लिए ही भृत्यवत अर्थात् सेवक के समान कर्म करता है वह उसी प्रकार पाप से लिपायमान नहीं होता जिस प्रकार जल में ही ऊगा हुआ कमल-पत्र जल से नहीं भीगता।" और इस प्रकार—

युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

परमात्म-भाव से युक्त हुए कर्मफल-वासना से रहित निष्ठावान् पुरुष (जिसके अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है और वह तत्वज्ञान लाभ करता हुआ) परम शान्ति प्राप्त करता है। और भी कहा कि—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

इस प्रकार भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेवाला निष्ठावान् कर्म-योगी शुभ और अशुभ कर्मों के अवश्यम्भावी फल-भोग-रूपी बन्धन से छूट जाता है।

इस प्रकार कर्म-योग का विधान और परिणाम दर्शाकर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि—

सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्म-योगी सम्पूर्ण कायिक, वाचिक, मानसिक, आदि कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन, अविनाशी, परम पद को प्राप्त होता है। यह कर्म-योगी के लिए भगवान् की प्रतिज्ञा है।

सर्वशक्तिमान् परम पिता भगवान् की इस प्रतिज्ञा पर विश्वास करके कर्म-योगी बनने का प्रयत्न करो। इसके लिए यही करना होगा कि *जो जिस वर्ण और जिस आश्रम में हैं उसी-के अनुकूल, अपने अधिकारानुसार, करने-योग्य कर्मों को शास्त्र द्वारा निश्चय करके उन्हें बुद्धिपूर्वक भगवान् को अर्पण करते हुए समस्त कर्मों में अपने कर्त्तापन के अहंभाव को विलीन कर, कर्म-फल-वासना के स्थान पर एक भगवद्भावना का संचार किया जाय।* यही निष्काम अथवा अनासक्ति कर्म-योग की प्रक्रिया है। और, इसीमें निष्णात हुआ सफल भगवद्भक्त कर्म-योगी कहलाता है। कर्म-योगी की आन्तरिक मनोवृत्ति समझने के लिए शिव-मानस-पूजा का यह श्लोक बड़ा ही सुन्दर है—

यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।

"हे भगवान् शंकर, मैं जो-जो भी—कायिक, वाचिक, मानसिक—कर्म करता हूँ उन समस्त कर्मों के द्वारा आपकी पूजा ही करता हूँ।"

इस प्रकार स्वकर्म-रूपी फूलों के द्वारा कर्म-योगी सदा भगवान् की उत्तम पूजा करता हुआ उन्हें ही प्राप्त कर लेता है।

———

यौगिक सफलता की कुंजी

[पूर्वोपदेश का शेषांश]

वेद के **कर्म-काण्ड** का यही चरम लक्ष्य है कि कर्म-योग द्वारा ही जीव के अन्तःकरण की शुद्धि कर उसे सच्चिदानन्द परमात्मा से मिला दे।

वेद के **उपासना-काण्ड** के अनुसार चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इसका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरण की वृत्तियों को साधन द्वारा निरुद्धकर परमात्मा के स्वरूप का अनुभव कराना है। निश्चल तरंग-रहित जलाशय में जिस प्रकार मनुष्य अपना मुख देख सकता है उसी प्रकार चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही कूटस्थ आत्मा का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में स्पष्ट दिखलाई देने लगता है। यही आत्म-दर्शन है।

वेद के **ज्ञान-काण्ड** के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के एकीकरण को योग कहते हैं। इसका अन्तिम लक्ष्य अविद्या के द्वारा उत्पन्न हुए अज्ञान को विद्या की कृपा से दूर कर आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हुए जीवात्मा और परमात्मा के भेद का मिथ्या ज्ञान हटाकर जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैत-सिद्धि करना है।

इस प्रकार वेदोक्त त्रिकाण्ड के अनुसार योग के उपर्युक्त तीन स्वरूप, और उपासना-काण्ड के अन्तर्गत मन्त्र, हठ, लय, राज, आदि विभिन्न योग-प्रणालियों की बाहुल्यता के कारण साधक स्वयं यह निर्णय नहीं कर सकता कि वह किसका अधिकारी है। नवीन साधक तो प्रायः योग-प्रणालियों के माहात्म्य

पढ़कर या सुनकर उनमें प्रवृत्त होने के लिए उत्सुक हो जाता है और कितने ही गृहस्थ और विरक्त लोग योग के नाम-श्रवण से ही अपनी प्रवृत्ति उससे हटा लेते हैं; क्योंकि वे योग को दुस्साध्य समझते हैं और अपने को इतना गिरा हुआ मान लेते हैं कि वे योग के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार यौगिक प्रक्रियाओं से सर्वथा अनभिज्ञ मनुष्य अपनी इच्छा से ही योग में प्रवृत्त और उससे निवृत्त हुआ करते हैं। किन्तु, इस प्रकार योग में स्वेच्छा से प्रवृत्त और स्वेच्छा से निवृत्त होनेवाले दोनों ही श्रेणियों के लोग भूल करते हैं। योग कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका पथ साधक स्वयं स्वेच्छा से या पुस्तकों द्वारा पढ़कर निर्णय कर सके और न सभी यौगिक क्रियाएँ ऐसी दुस्साध्य और भयावह ही हैं जो गृहस्थों के योग्य न हों।

आजकल गृहस्थ स्मरण रखें कि व्यास, वसिष्ठ, जमदग्नि, पाराशर, आदि सभी गृहस्थ थे जिनके सैकड़ों पुत्र हुआ करते थे। फिर भी वे बड़े उच्च कोटि के योगी हो गये हैं; इसलिए योग से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। योग कई प्रकार के हैं और उन सभी प्रकारों का परिणाम अन्त में एक ही होता है; परन्तु सब सबके अधिकारी नहीं होते। अपना अधिकार समझकर यदि प्रवृत्ति होगी तो अवश्यमेव लाभ होगा और अनधिकार-पूर्वक, बिना कुशल गुरु के पूछे हुए, प्रवृत्त हो गये तो लाभ के बदले हानि की ही अधिक संभावना रहती है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि साधक, जो विभिन्न योग-प्रणालियों से परिचित नहीं है, स्वयं निश्चय नहीं कर सकता कि वह किस योग-प्रणाली का अधिकारी है।

किसी रोगी को यदि औषधालय में बन्द कर दिया जाय जहाँ उसी रोग की अनेकों दवाइयाँ हों तो भी वह स्वयं अपनी

दवा करके अच्छा नहीं हो सकता। उसके लिए तो निदान करनेवाले वैद्य की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार सांसारिक आवागमन-रूपी महारोग से पीड़ित मुमुक्षु-रूपी रोगी को उपासना-रूपी औषधि का ठीक निदान मालूम करने के लिए सद्गुरु-रूपी वैद्य की आवश्यकता पड़ती है।

भव-रोग की निवृत्ति के लिए उपर्युक्त कर्म, उपासना और ज्ञान-रूपी तीन मुख्य औषधियाँ शास्त्र में बतलाई गई हैं, और इनके कई भेद हैं। हमारे लिए कौन-सा निदान उपयुक्त होगा, अर्थात् हमारे लिए कौन-सी उपासना लाभदायक होगी—इसका निदान साधक स्वयं नहीं कर सकता। सद्गुरु ही साधक के प्राक्तन संस्कार और कर्म समझकर उसकी अवस्था, शक्ति, देश, काल, आदि का विचार करके निश्चय कर सकते हैं कि यह किस उपासना का अथवा किस योग-मार्ग का अधिकारी है। साधक जब श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक सद्गुरु द्वारा निर्धारित उपासना में तत्पर होता है तब उसे लाभ भी शीघ्र होता है।

एक बात और विशेष महत्त्व की है कि जिस प्रकार एक रोगी को सदैव एक ही दवा का सेवन नहीं कराया जाता; किन्तु जैसे-जैसे उसका स्वास्थ्य सुधरता जाता है वैसे-वैसे दवा में बल बढ़ाने की औषधियाँ मिलाई जाती हैं। और, जिस प्रकार बालक की बुद्धि बढ़ने पर उसके पाठ्य क्रम की क्लिष्टता क्रमशः बढ़ाई जाती है, ठीक उसी प्रकार उपासना में प्रवृत्त हुए साधक के लिए गुरु लोग धीरे-धीरे प्रक्रिया बदलते जाते हैं। जैसे-जैसे उसका अभ्यास बढ़ता जाता है और उसके अनुभव बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे गुरु लोग उपासना की सूक्ष्मता बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार उपासना की एक से दूसरी कक्षा पार करता हुआ साधक अन्त में सिद्ध कोटि प्राप्त कर लेता है; किन्तु इस अवस्था

तक वही पहुँच पाता है जो सद्‌गुरुओं से अधिक सम्पर्क स्थापित करके उनके आदेशों पर उचित रीति से अभ्यास करता है।

इसलिए यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर मनमाना करते हुए समय नष्ट नहीं करना चाहिए। सद्‌गुरुओं को खोजकर उनसे अपने उपयुक्त उपासना का मार्ग समझकर उनके सहारे संसार-सागर से पार होने का प्रयत्न करना चाहिए; अन्यथा समय चला जायगा, आयु बीत जायगी और अन्त में केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा। क्या जाने कब श्वास बन्द हो जाय! इसलिए शरीर छूटने के पहले ही भगवदाराधना की मजबूत रस्सी बनाकर तैयार रखो जिसके सहारे ऊपर चढ़ सको, नहीं तो बिना आधार कहाँ किस योनि में—कितने नीचे गर्त में गिरोगे, कोई ठिकाना नहीं।

शासन-सत्ता पर धर्म-रक्षा का गुरुतर भार है

[श्रीगुरु-पूर्णिमा सं० २००१ के शुभ अवसर पर ज्योतिर्मठ से राजा-महाराजाओं को प्रसाद-रूपेण भेजा गया श्रीआचार्यचरण का पवित्र सन्देश]

हिन्दू-समाज एवं उसका समस्त जीवन धार्मिक भित्ति पर संगठित है और यही कारण है कि सहस्रों वर्षों से हिन्दुओं की संस्कृति पर स्वजातीय एवं विजातीय आक्रमण होते रहने पर भी चतुष्पादपूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्था से सुरक्षित हिन्दू-संस्कृति का विनाश नहीं हो सका।

प्राचीन काल में संन्यासी और पण्डित-वर्ग अपने सदुपदेश और धर्माचरण के आदर्श द्वारा राजा-प्रजा दोनों के धार्मिक जीवन का संचालन करते थे और राजन्य वर्ग पुरस्कारादि द्वारा धर्माचरण को प्रोत्साहित कर एवं तिरस्कारादि द्वारा अधर्माचरण को रोककर धर्म की रक्षा में तत्पर रहा करते थे जिससे समाज इष्टोपासनादि धर्माचरण द्वारा ऐहिक अभ्युदय एवं पारलौकिक उन्नति करता हुआ निःश्रेयस पथ पर अग्रसर होता था। परन्तु, जब से स्वधर्म और सविधि इष्टोपासना की उपेक्षा हुई तब से आचार-भ्रष्टता, स्वार्थान्धता, आलस्य, अश्रद्धा और असन्तोष आदि भयंकर ग्राहों ने हिन्दू-समाज को घेर लिया है। इनसे छुटकारा पाये बिना मानव-जीवन के मुख्य उद्देश्य—अभ्युदय और निःश्रेयस—का मिलना असम्भव है।

नरपति-वर्ग प्रजा का न केवल शासक और नेता है अपितु अपने आश्रित जन-समुदाय के अभ्युदय और निःश्रेयस

के लिए उसपर धर्म-पालन एवं धर्म-रक्षा का गुरुतर भार भी है।

धर्म-शास्त्र में राजन्य-वर्ग के लिए प्रजा को पुत्रवत् पालने का आदेश है। जिस प्रकार पिता ही अपने पुत्र को शिक्षा आदि द्वारा सुयोग्य बनाकर उसके जीवन को सुखी बना सकता है उसी प्रकार राजा ही अपनी प्रजा को धर्माचरण-रत बनाकर, शास्त्र-मर्यादाओं पर चलाता हुआ, लोक-परलोक में उसका मार्ग निष्कण्टक एवं परम सुख-शान्ति-मय बना सकता है।

अतएव वैयक्तिक एवं सामाजिक अभ्युदय और निःश्रेयस के पुण्यतम उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक राजा-महाराजा एवं प्रत्येक शासन-सत्ता का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह स्वयं स्वधर्म पालन करता हुआ इष्टोपासना में तत्पर रहे और अपने आश्रित जन-समुदाय को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करे। इसीमें राजा और प्रजा दोनों का कल्याण है।

भगवान् भाष्यकार की स्मृति में

[श्रीभगवान् भाष्यकार श्रीआद्य शंकराचार्य्य की जयन्ती के शुभ महोत्सव पर श्रीश्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर, हरद्वार, में १६ मई, सन् १९४९ को पठित श्रीचरण का पवित्र सन्देश]

भगवान् भाष्यकार की पुण्य जयन्ती के अवसर पर भारतीय प्रकृति अपने प्राचीन उच्चतम सिद्धान्तों का स्मरण कर गौरवान्वित हो ही जाती है। प्रस्थान-त्रय के अनुपम अकाट्य भाष्यों के कारण उनके परम पवित्र नाम के साथ विश्व के सर्वोच्च दर्शन—वेदान्त सिद्धान्त—का चिरस्मरणीय अभेद सम्बन्ध भारत के जगद्गुरु-पद को आज भी अक्षुण्ण बनाये रखने का डिंडिम-घोष कर रहा है।

भगवान आदि-शङ्कराचार्य्य भाष्य-रूप में हमें ऐसा चिरस्मरणीय अलौकिक वैभव प्रदान कर गये हैं जिसके लिए विश्व के गौरववान् स्वाभिमानी प्रत्येक राष्ट्र आज भी हमारे सन्मुख नतमस्तक हैं और सदा रहेंगे। इस अक्षय सम्पत्ति-दान के लिए संसार भगवान् भाष्यकार का सदा ही ऋणी रहेगा।

आज उनकी पुण्य जयन्ती के शुभ अवसर पर विश्व के लिए हमारा सूत्र-रूप से यही आदेश है कि मानव-समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस धर्म-सम्मत नीति पर आरूढ़ होकर कार्य करने में ही है। और, हमारी यही मङ्गल कामना है कि मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध हो और संसार त्रिविध ताप से मुक्त होकर स्थायी सुख-शान्ति का अनुभव करे।

व्यापक तत्त्व

['व्यापक तत्त्व' और 'त्रैलोक्य का स्वामित्व' ये दोनों उपदेश प्रयाग में तारीख़ २८-२-४६ को दिये हुए उपदेश के अंश हैं।]

समस्त चराचर विश्व का अधिष्ठान एक ही परमात्मा है। वही परम तत्त्व है। उसीसे त्रिगुणात्मिका माया और उसीसे महत्तत्त्वादि का सृजन हुआ है। सृष्टि-क्रम के विभिन्न मतानुसार जटिल विवेचनों पर विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य इतना ही निष्कर्ष समझ लेने में है कि इस समस्त दृश्य, अदृश्यमान जगत् की स्थिति अपने अधिष्ठान, अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण, व्यापक परमात्मा में उसी प्रकार है जिस प्रकार जल में बरफ़ के ढेले की स्थिति है। जैसे जल ही घनीभूत होकर बरफ़ के रूप में दृष्टिगोचर होता है; किन्तु वास्तव में उसके कण-कण में उसका अधिष्ठान—जल ही— व्याप्त रहता है, उसी प्रकार समस्त विश्व का अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा ही सम्पूर्ण चराचर जगत् में ओतप्रोत है और उसीसे समस्त जगत् की स्थिति है।

वही एक परमात्म तत्त्व समस्त भौतिक तत्त्वों में स्थित हो विभिन्न तत्त्वों के गुण, धर्मों का संचालन कर रहा है। समस्त तत्त्वों में उनके गुण-रूप से विद्यमान वही एक परम तत्त्व है। अग्नि में दाहकत्व-रूप से स्थित, वायु में शोषकत्व और जल में शैत्य (शीतलता) रूप से स्थित वही एक परम तत्त्व है। इसके लिए वेद-शास्त्र तो प्रमाण हैं ही; किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलते हैं। प्रह्लाद को अग्नि जला नहीं सका, यही अकाट्य प्रमाण है कि जिसका सम्बन्ध उस एक सर्वाधिष्ठान, निखिल

जगदाधार, कर्तुं अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं-समर्थ परम तत्त्व से हो जाता है, उसकी इच्छानुसार ही भौतिक तत्त्व—अग्नि, वायु, आदि—बर्तने लगते हैं।

वे ही अग्नि की ज्वालाएँ होलिका के लिए दाहकत्व-पूर्ण और वे ही उसी समय प्रह्लाद के लिए सर्वथा दाहकत्व-शून्य सिद्ध हुईं। भौतिक विज्ञान इसका कारण नहीं बतला सकता। इसका कारण केवल यही है कि अग्नि में दाहकत्व-रूप से स्थित उस परमतत्त्व-सर्वाधिष्ठान परमात्मा से प्रह्लाद का साक्षात् (अभेद) सम्बन्ध होने के कारण अग्नि का दाहकत्व गुण प्रह्लाद का ही गुण बन गया—प्रह्लाद स्वयं अग्नि-स्वरूप हो गये—फिर अग्नि को अग्नि कैसे जलाए?

त्रैलोक्य का स्वामित्व

इसी प्रकार अनेकों प्रत्यक्ष उदाहरण इतिहास, पुराणों में मिलते हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि सर्वाधिष्ठान, सर्व-शक्तिमान् जगन्नियन्ता परमात्मा को ही चराचर में व्याप्त देखते हुए उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करो। (शास्त्र-विहित उपासना द्वारा) उस परम तत्त्व से अभेद हो जाने पर भौतिक तत्त्वों—अग्नि, जल, वायु, आदि—पर स्वाभाविक ही आधिपत्य स्थापित हो जाता है और काल की भूत, भविष्यद्वर्त्तमान, त्रिविध गति पर अधिकार होकर समस्त सृष्टि का स्वामित्व प्राप्त होता है।

भारतीयों को अपने अंतरङ्ग साधनों और परमात्म-निष्ठा द्वारा इस उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर सकने का गौरव प्राप्त है। वेद-विहित धर्मशास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान मनुष्य को न केवल मरणोप-रान्त स्वर्गादि देवलोकों की प्राप्ति मात्र करा सकता है; किन्तु

इसी जीवन में ही त्रैलोक्य का स्वामित्व भी प्रदान कर सकने का सामर्थ्य रखता है। विश्वास करो और सद्गुरुओं को प्राप्त कर अपना अभिलषित पथ निर्धारित कर प्रयत्नशील बनो। आज भी वे ही दिव्यातिदिव्य अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं; किन्तु जिस वस्तु की प्राप्ति का जो मार्ग है, उसी मार्ग से वह प्राप्त होगी। आज संसार की प्रगति ऐसे मार्ग की ओर हो रही है जो सर्वथा इसके विपरीत है। यही कारण है कि एक समय का सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र, जगद्गुरु भारत आज शक्ति-हीन होकर अपनी शारीरिक स्वतंत्रता के लिए भी परमुखापेक्षी हो रहा है।

भारतीयो! जागो। पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों की कूटनीति का शिकार बने तुम्हें काफ़ी समय हो गया—सचेत होकर इस बात को समझो कि उनकी शिक्षा-दीक्षा ने तुम्हारा दृष्टि-कोण ही बदल दिया है। अपना वर्तमान पाश्चात्य दृष्टि-कोण बदलो—अपने धर्म को उन्नति-पथ का रोड़ा समझकर केवल भौतिक अस्त्र-बल, शस्त्र-बल, संगठन-बल सम्पादन में ही अपनी समस्त शक्ति और समय न लगा दो, अपने वास्तविक कल्याण-पथ पर दृष्टिपात करो—वास्तविक शक्ति-सञ्चय के सनातन उपायों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करो—आज भी सब हो सकता है। जिन सनातन उपायों से पहले, सर्वसामर्थ्य प्राप्त कर समस्त प्रकृति और भूतल पर आधिपत्य स्थापित किया जाता था वे ही वेद-शास्त्रीय सनातन उपाय और वही प्राचीन सिद्ध-सद्गुरु-परम्परा आज भी भारत में उपलब्ध है। सावधान होकर सचेष्ट होने की आवश्यकता है। स्थायी सुख-शान्ति-पथ आज भी सदा की भाँति उज्ज्वल है; केवल उस पथ के पथिक बनने की देरी है।

———

भगवान् निराकार हैं कि साकार ?

[इटावा में एक बार एक दर्शनार्थी ने पूछा कि भगवान् साकार हैं कि निराकार ? इसके उत्तर में श्रीचरण ने समझाया —]

भगवान् निराकार भी हैं और साकार भी । जैसे दुग्ध में मक्खन निराकार-रूप से दुग्ध के कण-कण में व्याप्त रहता है उसी प्रकार भगवान् इस जगत् में निराकार-रूप से सर्वत्र चराचर में विराजमान हैं; और जिस प्रकार दुग्ध को मन्थन कर साकार-रूप में मक्खन प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार उपासना-रूपी मथानी से मन्थन कर निराकार भगवान् को साकार रूप में प्राप्त करते हैं ।

जिस प्रकार दुग्ध में सार वस्तु मक्खन है उसी प्रकार इस जगत् में सार वस्तु भगवान् हैं; और जिस प्रकार दुग्ध से मक्खन निकाल लेने पर दुग्ध की सारी तुष्टि-पुष्टि-कारक-शक्ति और सरसता मक्खन में प्राप्त होती है और दुग्ध नीरस लगने लगता है उसी प्रकार इस चराचर जगत् की सार वस्तु, भगवान्, को प्राप्त कर लेने से समस्त सौख्य-सम्पदा और परम शान्ति सहसा प्राप्त हो जाती है और निस्सीम आनन्द का अनुभव होता है और फिर यह जगत् सर्वथा नीरस लगने लगता है ।

भगवान् को इस प्रकार निराकार और साकार दोनों समझकर उसकी प्राप्ति का उपाय करो। उपासना में प्रवृत्त होओ और इस शाब्दिक ज्ञान को अनुभव में परिणत कर स्वयं उस परमानन्द की प्राप्ति करो ।

व्यापक निराकार में व्याप्य साकार

[इटावा में एक बार एक परमहंस संन्यासी महात्मा ने आकर प्रश्न किया—"भगवन् ! व्यापक निराकार ब्रह्म में व्याप्य साकार जगत् की स्थिति कैसे है ?" श्रीचरण ने कहा—]

जिस प्रकार जलाशय में बरफ़ के ढेले की स्थिति है उसी प्रकार निराकार निरुपाधिक ब्रह्म में साकार सोपाधिक जगत् की स्थिति है। बरफ़ जल से ही उत्पन्न होता है, उसके भीतर-बाहर जल ही ओतप्रोत रहता है, अर्थात् उसकी स्थिति जल में ही रहती है और परिणाम में अर्थात् बरफ़ का नाम-रूप नष्ट होने पर भी वह जल ही हो जाता है; इसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक समस्त जगत् नाम-रूप-रहित निरुपाधिक ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है; वही निरुपाधिक ब्रह्म इस जगत् में ओत-प्रोत है और जगत् का नाम-रूप नष्ट होने पर उसीमें इसका लय भी हो जाता है।

व्यवहार और परमार्थ दोनों कैसे सधें ?

[ता० २०-२-४६ को प्रयाग में दर्शनार्थ आकर एक राजा ने प्रश्न किया—"भगवन् ! क्या ऐसा हो सकता है कि व्यवहार भी चलता जाय और परमार्थ भी बनता जाय ?" उत्तर में श्रीचरण ने कहा—]

मैनेजर की हैसियत से व्यावहारिक कार्य करो, तो व्यवहार भी उत्तम रहेगा और परमार्थ भी बनता जायगा। राजा और मैनेजर में इतना ही अन्तर होता है कि राजा का राज्य में स्नेह रहता है, किन्तु मैनेजर का स्नेह और ममत्व नहीं रहता; वह केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से ही राज्य का प्रबन्ध करता है। लोगों को चाहिए कि समस्त व्यावहारिक कार्य करते हुए उसमें भीतर से ममत्व और स्नेह न रखें। स्त्री-पुत्रादि तथा इष्टमित्रादि के प्रति आन्तरिक प्रेम रखने की आवश्यकता नहीं है; केवल मैनेजर की हैसियत से उनकी उचित आवश्यकताओं की यथा-साध्य पूर्ति करते रहना चाहिए और आन्तरिक प्रेम परमात्मा के प्रति बढ़ाना चाहिए।

तन और धन से व्यवहार सम्पादन करो और मन से परमात्मा का चिन्तन करो। कुछ ही समय के अभ्यास से यह प्रयोग सिद्ध हो जायगा और तब लोक-परलोक दोनों उज्ज्वल रहेंगे।

स्वत्व-विसर्जन

[प्रयाग में एक समय श्रीचरण ने उपदेश करते हुए कहा—]

काशी में रामायण के एक बड़े प्रेमी पण्डित थे; रामायणी बहुत अच्छे थे; सत्संग के लिए प्राय: आया-जाया करते थे। एक बार उन्होंने एकान्त में अवसर पाकर कहा—"महाराज! हम दिन भर माला फेरते हैं और भगवान् की इतनी कथा कहते हैं; परन्तु हमारा मन स्थिर नहीं होता।"

श्रीचरण ने कहा—"मालूम होता है कि आपने अपना मन पूर्ण रीति से भगवान को अर्पण नहीं किया। यदि भगवान् को अर्पण कर दिया होता तो भगवान ही मन का संरक्षण करते; और आपको उसके स्थिर या अस्थिर होने की चिन्ता न होती। आपको चिन्ता बनी है; इससे मालूम होता है कि आपने अभी अपना अधिकार मन से नहीं हटाया है। और, जब तक आपका अधिकार उसपर बना ही है तो भगवान् को अर्पण क्या किया गया? जब आप अपना अधिकार उसपर से हटा लेंगे तब भगवान् उसपर अपना अधिकार कर सकेंगे और तब उसे वे आपही सँभाल लेंगे। एक वस्तु पर एक समय में एक ही का अधिकार हो सकता है। या तो आप मन को अपने अधिकार में रखकर स्वत: उसका नियंत्रण करें, अथवा अपना अधिकार सर्वथा हटाकर उसे भगवान् के अधिकार में छोड़ दें और उसके बनने-बिगड़ने की चिन्ता से मुक्त हो जायँ; भगवान जैसा ठीक समझेंगे करेंगे।"

× × × ×

सरयू-तट पर एक साधु एक ज़मींदार से अपनी झोपड़ी बनाने के लिए कुछ ज़मीन चाहता था; परन्तु वह ज़मींदार

उसको देने को तैयार न हुआ। एक बार श्रीचरणों का उधर से निकलना हुआ तो उस साधु ने आकर कहा कि वह जमींदार आपपर विशेष श्रद्धा रखता है, आपके कहने से भूमि दे देगा। श्रीचरणों ने उस जमींदार से जमीन न देने का कारण पूछा। उसने कहा—"महाराज! हमको जमीन देने में कुछ भी इन्कार नहीं है। जमीन तो हम आज दे दें; पर वहाँ शहर-भर का कूड़ा-करकट जमा होता है, वहाँ से घूर को हटाने के लिए सबसे बुराई मोल लेना पड़ेगी।" इसपर श्रीचरणों ने कहा कि तुमको घूर हटाने की क्या चिन्ता है, जिसको तुम दे रहे हो वह अपने आप प्रबन्ध कर लेगा। तुम अपना अधिकार उसपर से हटा लो; बस, तुम्हारा कर्त्तव्य पूर्ण हो गया। इसपर उसने जमीन दे ही दी।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब मन पर से अपना अधिकार हटा लिया जाता है तो घूर, जो मन का विकार है, उसको लेनेवाला अपने आप हटाने का प्रबन्ध करता है। मन भगवान् को अर्पण कर दिया गया और फिर भी मन विकल रहे तो इसका अर्थ है कि अभी मन पूर्ण रीति से अर्पण नहीं किया गया है। मन को हम पूर्ण रीति से भगवान् को अर्पण कर दें—उसपर से अपना स्वत्त्व सर्वथा हटा लें—बस, हमारा कर्त्तव्य पूर्ण हो गया। फिर हमें मन की स्थिरता या अस्थिरता के लिए व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं।

× × × ×

ममत्व का नाम ही स्वत्त्व है। वासना-सूत्र द्वारा संसार और मन के बीच में जो सम्बन्ध स्थापित हो गया है वही ममत्त्व है। इसका मूल कारण अहंकार है; इसलिए जब तक अपने अहभाव को भगवदर्पण नहीं किया जायगा तब तक मन पर से अपना

स्वत्त्व सर्वथा हट नहीं सकता और तब तक मन पर भगवान् का भी पूरा अधिकार नहीं हो सकता। और, मन पर भगवान् का पूर्ण अधिकार हुए बिना मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती तथा मन की चंचलता दूर हुए बिना शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए स्वत्व-विसर्जन ही परम शान्ति का मूल कारण है। जिस प्रकार लौकिक अर्थ में स्वत्त्व-विसर्जन ही दान है, उसी प्रकार पारमार्थिक अर्थ में स्वत्त्व-विसर्जन ही वास्तविक भक्ति है। जब अपना अहंभाव परमात्मा में विलीन कर दिया जाता है तब व्यष्टि-सत्ता समष्टि-सत्ता में मिल जाती है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपना ही हो जाता है।

सरिता जब समुद्र में प्रवेश करके समुद्र में लीन हो जाती है तब सरिता में समुद्र के गुण आ जाते हैं। उसी प्रकार जिस समय व्यष्टि-अहंकार का वासना-स्रोत अथाह परमात्मा-रूपी महासमुद्र में अर्पण कर दिया जाता है उस समय उसमें परमात्मा का ही बल आ जाता है। परन्तु, मन पूर्ण-रूपेण परमात्मा में समर्पण किया नहीं जाता—जीव की यह कृपणता जन्म-जन्मान्तरों से चली आती है, सहसा छूटती नहीं। इसे छुड़ाने के लिए शास्त्रकारों ने आत्म-समर्पण के पहले क्रमशः आठ भूमिकाएँ और बताई हैं। यही नवधा भक्ति के नौ अंग हैं जिनमें अन्तिम है आत्म-समर्पण।

आत्म-समर्पण ही भक्ति की पराकाष्ठा है। जीव भगवान् को अपना सम्पूर्ण स्वत्त्व समर्पण कर उनसे अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और अन्त में भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। परन्तु, यह क्षमता उसमें तभी आती है जब वह तत्परता के साथ विधि-पूर्वक क्रमशः भक्ति की आठों भूमिकाओं को पार करता हुआ अन्तिम नवम में पदार्पण करे।

अवैध एवं यथेच्छा प्रमाण पूजन, पाठ, भजन, कीर्तन आदि करते हुए भक्तों के लक्षण अपने में घटाने का प्रयत्न करने से सफलता नहीं मिलती; इसलिए सद्गुरुओं से अपने अधिकारानुसार भक्ति की प्रक्रिया समझकर और उसपर आरूढ़ होकर भक्ति के शुद्ध स्वरूप में प्रवेश करने से ही अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

तन, मन और धन का सदुपयोग

[प्रयाग में दिये हुए श्रीचरण के एक दिन के उपदेश का सारांश]

मनुष्य यदि तन, मन और धन के उपयोग का प्रकार ठीक समझकर तन और धन को सांसारिक कार्यों में लगाये और मन से परमात्मा का चिन्तन करता हुआ समय को बिताये तो लौकिक और पारलौकिक दोनों उन्नति प्राप्त कर सकता है और अपना मनुष्य-जीवन सफल बना सकता है ।

मन वास्तव में मन को तो व्यर्थ ही लौकिक कार्यों में फँसाया जाता है। इष्ट-मित्र, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, आदि सब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही चाहते हैं । इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति तन और धन के द्वारा हो ही जाती है। मन के द्वारा अहर्निश इनका चिन्तन करते रहना और इन्हींके लिए हर समय अपने मन को संसारी कार्यों की उलझन में फँसाये रहना मन का सर्वथा दुरुपयोग करना है।

यदि आप अपने पोष्य-वर्ग—स्त्री, पुत्र, आदि—से कहते रहो कि मन से तुम्हें हम बहुत प्यार करते हैं, हर समय तुम्हारा ही चिन्तन किया करते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति न करो तो वे कभी भी प्रसन्न नहीं रह सकते और न आपको भी प्रसन्न रहने दे सकते हैं। वे तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं, आपके मन से उनका कोई प्रयोजन नहीं।

वास्तव में मन का ग्राहक इस लोक में कोई है ही नहीं; उसे तो जबरदस्ती आप लोग दूसरों के गले बाँधते हो । जिस

मन को जगत् में कोई नहीं चाहता वही मन परलोक-मार्ग को उत्तम बनाने के काम में आता है। एक ओर तो लोक में मन का ग्राहक कोई नहीं है और दूसरी ओर विचार करने पर यही पुष्ट होता है कि मन को भी वास्तव में जगत् में कुछ भी प्रिय नहीं लगता; इसीलिए वह एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में भ्रमण करता हुआ सदा विकल रहता है। यदि जगत में उसके योग्य कोई प्रेमास्पद पदार्थ होता तो उसे प्राप्त कर वह अवश्य स्थायी सुख-शान्ति का अनुभव करता; किन्तु यह अनुभव-सिद्ध है कि जगत् की कोई भी वस्तु मन को स्थायी रूप से अपनी ओर आकृष्ट किये रहने में असमर्थ है। केवल परमात्मा ही ऐसे हैं जिनमें मन स्थिर रह सकता है। जब उसे सच्चिदानन्द की प्राप्ति हो जाती है तब वह सदा के लिए उसीमें निमग्न हो रहता है; फिर उसकी व्यग्रता शान्त हो जाती है और वह परम सुख-शान्ति का अनुभव करता है; किन्तु जब तक उसे परमात्म-दर्शन या भगवत्-प्राप्ति नहीं होती तब तक वह अशान्त ही रहता है; इससे यही निश्चय होता है कि मन का वास्तविक आधार परमात्मा ही है; इसलिए उसे जान-बूझकर सांसारिक कार्यों में फँसाये रखना उसके लिए अशान्ति का ही क्षेत्र बनाना है।

यही होना चाहिए कि मन का बहुत-थोड़ा सहयोग देते हुए तन और धन को शास्त्र-विहित रीति से सांसारिक कार्यों में लगाओ और अधिकांश मन को परमात्मा में लगाओ। इससे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख-शान्ति की प्राप्ति होगी। यही तन, धन और मन का सदुपयोग है और इसीके द्वारा ऐहिक और पारलौकिक उन्नति करता हुआ मनुष्य सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत करके अन्त में जन्म-मरण के अनन्त दुःखों से मुक्त होकर चिरन्तन सुख-शान्ति की प्राप्ति कर सकता है।

मन को परमात्मा में लगाने की कुञ्जी अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए; क्योंकि उसका अनेकों जन्मों से भटकने का अभ्यास पड़ गया है; इससे सहसा परमात्मा की ओर नहीं झुकता। उसे विशेष युक्ति से इस ओर झुकाया जाता है। मुक्तिकोपनिषद् का वाक्य है—

न शक्यते मनो जेतुं बिना युक्तिमनिन्दताम्।

बिना युक्ति के मन की व्यग्रता शान्त नहीं होती। इसलिए इस युक्ति को सद्गुरुओं से प्राप्त कर उसका उपयोग करके परमात्म-दर्शन द्वारा मन की जन्म-जन्म की व्यग्रता शान्त कर स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त करो। यही मन का वास्तविक सदुपयोग है।

मन का सदुपयोग करने से तन और धन का सदुपयोग स्वाभाविक रीति से ठीक होने लगता है; इसलिए मन के सदुपयोग पर विशेष ध्यान देना परम आवश्यक है। यही सर्व-कल्याण-साधन की कुंजी है।

सुख-शान्ति कैसे मिले ?

[प्रयाग में एक बार एक राजा ने दर्शनार्थ आकर लौकिक शान्ति और पारलौकिक आनन्द-प्राप्ति का उपाय पूछा। उसके उत्तर में दिये हुए श्रीचरण के उपदेश का यह सारांश है।]

लौकिक अशान्ति के प्रधान कारण अपने ही हृदय में स्थित काम (कामनाएँ), क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य हैं। यही परमार्थ-प्राप्ति में भी प्रधान बाधक हैं।

यही आन्तरिक छः सूक्ष्म शत्रु बाह्य जगत् में किसी-को निमित्त बनाकर शत्रु-मित्र खड़ा कर लेते हैं और उसीके राग-द्वेष में व्यस्त रहता हुआ जीव सदा अशान्त रहता है; इसलिए शान्ति प्राप्त करने के लिए यह परम आवश्यक है कि इन आन्तरिक छः शत्रुओं का दमन किया जाय।

ये आन्तरिक छः शत्रु अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण के ही विकार हैं; इसलिए इनका दमन अन्तःकरण में सतोगुण की प्रधानता होने पर ही हो सकता है। इसके लिए शास्त्र-सम्मत जीवन-चर्य्या रखते हुए सात्विक आहार-विहार, सत्सङ्ग और शास्त्र-विचार परमावश्यक है। इससे अन्तःकरण में सतोगुण की वृद्धि होकर विवेक उत्पन्न होगा और उसके द्वारा षडरिवर्ग का स्वाभाविक दमन होकर अशांति का कारण निर्मूल हो जायगा।

इसके साथ-साथ पारमार्थिक आनन्द के अनुभव के लिए गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा जप-ध्यान आदि करते हुए साधन का अभ्यास बढ़ाना होगा। जिस प्रकार लौकिक अशांति के मूल

कारण काम, क्रोधादि अपने ही अन्दर हैं, उसी प्रकार अखण्ड आनन्द का समुद्र—परमात्मा—भी अपने अन्दर ही है। गुरूपदिष्ट उपायों द्वारा उसका अनुभव अपने ही अन्दर किया जाता है और तब जीव उपासना की परिपक्वावस्था में सच्चिदानन्द के अखण्ड आनन्द-सिन्धु में प्रवेश कर जाता है। यही जीवनमुक्ति की अवस्था होती है और यही इस जीवन-काल में परमात्मानन्द के अनुभव की पराकाष्ठा है। मनुष्य सद्गुरु की प्राप्ति कर उनके बताए हुए उपासना-प्रकार का श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक अभ्यास करे तो वह अपनी उपासना-क्रम में स्वयं अनुभव करता हुआ सद्गुरु के इंगित पर आगे बढ़ता जायगा और अन्त में आत्मज्योति से चिर-प्रकाशित अखण्ड आनन्द के क्षेत्र में प्रवेश कर मनुष्य-जीवन को सफल कर लेगा।

संक्षेप में यही लौकिक शान्ति और पारलौकिक आनन्द-प्राप्ति के उपाय हैं।

देवालयों की अव्यवस्था से दैवी प्रकोप

[इटावा में दिये गये श्रीचरण के एक दिन के आदेशात्मक सदुपदेश का सारांश]

जिस प्रकार मनुष्य के स्थूल शरीर का नियामक उसका सूक्ष्म शरीर है उसी प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड के स्थूल जगत् का नियामक सूक्ष्म दैवी जगत् है। दैवी सत्ता के अनुकूल होने पर मानवी सत्ता का उत्कर्ष एवं प्रतिकूल होने पर अपकर्ष होता है। मानवी जगत् में दैवी सत्ता की अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए ही आर्य-ग्रन्थों में दैवी जगत् के संचालक देवताओं, ऋषियों एवं पितरों के अर्चन-पूजन के विधान हैं, जिनके द्वारा उनकी नित्य एवं नैमित्तिक कृपा प्राप्त की जाती है।

मठ-मन्दिरादि देव-स्थान सूक्ष्म जगत् के प्रधान सत्ताधारी देवीदेवताओं की उपासना के केन्द्र हैं। इनमें स्थापित देवताओं के साकार विग्रहों में अन्तर्निहित सूक्ष्म दैवी सत्ता षोडशोपचार, पञ्चोपचार, आदि शास्त्रीय पूजन-विधानों द्वारा उसी प्रकार प्रसन्न होती है जिस प्रकार मनुष्य-शरीर को सुसज्जित एवं अलंकृत करने से उसका सूक्ष्म शरीर (जीव) प्रसन्न होता है। और, जिस प्रकार विभिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार उनकी प्रसन्नता का साधन भिन्न-भिन्न होता है, उसी प्रकार विभिन्न देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए उनके पूजन-अर्चन तथा राग-भोग आदि का प्रकार भी भिन्न-भिन्न है। देवताओं की प्रकृति के अनुकूल शास्त्रोक्त विधानों द्वारा उनके साकार विग्रह का विधिवत् पूजनादि करके मनुष्य दैवी जगत् की प्रसन्नता प्राप्त कर स्वयं दैवी-शक्ति-सम्पन्न हो जाता है।

अतीतकाल से जिस धर्म-प्राण भारतदेश के कोने-कोने में दैवी-शक्ति-द्योतक प्रत्यक्ष चमत्कारिक घटनाएँ भक्तों द्वारा प्राप्त होती आई हों वहाँ दैवी शक्ति के केन्द्र—इन मठ-मन्दिरों की—ओर आधुनिक सभ्य-समाज की उपेक्षा दृष्टि हो यह हिन्दुत्व पर घोर कलंक और हिन्दू-राष्ट्र के लिए अत्यन्त शोचनीय दशा है। *हिन्दू-समाज यदि अपना कल्याण चाहता है तो उसे इस दुर्व्यवस्था को सुधारना होगा।*

देवताओं की साकार मूर्त्ति की प्राण-प्रतिष्ठा (उस मूर्त्ति में सूक्ष्म दैवी शक्त्याधान) हो जाने पर उसका पूजन, राग, भोग, आदि विधिवत् होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा होने से ही सेवक (पूजक अथवा उपासक) पर देवता प्रसन्न होकर उसे इच्छित फल प्रदान करते हैं; परन्तु ऐसा न होने से अवहेलना करनेवालों पर दैवी अप्रसन्नता अवश्यम्भावी है। अतएव देव-स्थानों के प्रबन्धकों को चाहिए कि इस सम्बन्ध में वे अपना कर्त्तव्य श्रद्धा-भक्ति-सहित यथोचित पालन करें। यदि देवालयों के वर्तमान प्रबन्धक अपने कर्त्तव्य का यथोचित पालन नहीं करते तो वे अपनी अकर्मण्यता अथवा दुष्कर्मण्यता के द्वारा देश के लिए दैवी अप्रसन्नता का कारण बनते हैं। यदि समाज दैवी कृपा प्राप्त कर सुख-शांति का उपभोग करना चाहता है तो उसे उन्हें सुव्यवस्थित करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

प्राय: सभी स्थानों में देवालयों के निर्माताओं ने इनके संचालनार्थ जो स्थायी सम्पत्ति भेंट की है उसका सद्व्यय होता है या नहीं, इसपर भी दृष्टि रखना समाज का कर्त्तव्य है। जिन कार्यों से देवता प्रसन्न होते हैं उन्हींमें देवार्पित सम्पत्ति का व्यय होना उसका सदुपयोग है; अन्यत्र व्यय करने से देवार्पित द्रव्य का अपमान और दैवी इच्छा की अवहेलना

होने के कारण देवताओं की अप्रसन्नता का होना स्वाभाविक ही है। वेद, शास्त्रादि, धर्म-ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि विधिवत् जप, पाठ, पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि नित्य के पूजन-विधानों एवं अनुष्ठान, यज्ञ, महायज्ञादि नैमित्तिक पूजन-विधानों द्वारा ही देवता प्रसन्न होते हैं। अतएव देवार्पित सम्पत्ति का उपयोग इन्हीं कार्यों में किया जाना चाहिए। समय के कुप्रभाव से मठ-मन्दिरों के पुजारी-पुरोहितों को प्रायः अपने विषय और कर्त्तव्य का यथोचित ज्ञान नहीं रह गया है और यही कारण है कि कर्मकाण्ड की सर्वथा अवहेलना-सी हो रही है तथा देव-पूजन, अनुष्ठानादि प्रायः पूर्णतया विधिवत् सम्पन्न नहीं हो रहे हैं; अतएव पुजारी-पुरोहितों के शिक्षा-केन्द्र खोले जाना भी दैवी प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

दैवी-शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र ही सुख-शान्ति का उपभोग करता हुआ विश्व का शान्ति-पथ-प्रदर्शन कर सकता है। धर्म-प्राण-देश होने से भारतवर्ष ही संसार में दैवी शक्ति अवतरित होने का प्रधान केन्द्र है। यदि भारतवासी इसे ठीक-ठीक समझकर शास्त्रोक्त उपासना एवं अनुष्ठानों द्वारा दैवी शक्ति सम्पादन करें और सूक्ष्म दैवी सत्ता की प्रसन्नता प्राप्त कर लें तो भारतवर्ष पुनः अपने अतीत गौरव को प्राप्त हो सकता है। इस देश में सिद्ध पीठों एवं देव-स्थानों के बाहुल्य के कारण अभिव्यक्त दैवी क्षेत्र तो अत्यन्त विस्तृत है, किन्तु अव्यवस्थित हो जाने से यह कुत्सित-सा हो गया है। व्यवस्था ठीक हो जाने पर क्षेत्र पवित्र हो जाना स्वाभाविक है। इसकी पवित्रता के साथ ही दैवी अनुकम्पा का प्रसार होगा और इसके फल-स्वरूप सर्वानर्थों के मूल अधर्म का निराकरण तथा सर्व सौख्य-सम्पदा के मूल धर्म का संस्थापन होकर देश में उत्तरोत्तर दैवी अनुकम्पा बढ़ेगी और स्थायी सुख-शान्ति का प्रसार होगा।

समाज को चाहिए कि सतर्क एवं बद्ध-परिकर होकर इस ओर कार्यशील हो। जो इस सम्बन्ध में काय करेगा उसे हमारा आशीर्वाद है, वह दैवी जगत् की विशेष कृपा का भाजन एवं प्राणिमात्र के कल्याण के पुण्य का भागी बनेगा।

स्थायी सङ्गठन का आधार—
इष्ट की व्यापकत्वानुभूति

[प्रयाग में ता० ४-३-४६ को दिये गये उपदेश का सारांश]

वेद-शास्त्रानुकूल नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान करते हुए सद्गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा अधिकारानुसार भगवदुपासना करनेवाले राजमार्गावलम्बी हैं। इन्हें कभी भी भ्रम नहीं हो सकता और अभीष्ट सुख-शान्ति की प्राप्ति इनके लिए निश्चित है।

जो लोग वेद-शास्त्र से सम्बन्ध नहीं रखते केवल साम्प्रदायिक नियमों का पालन अथवा मनमुखी मार्गावलम्बन करते हैं वे मानों राजमार्ग छोड़कर पगडंडी का अवलम्बन कर रहे हैं। पगडण्डियाँ राजमार्ग से ही निकलती हैं; परन्तु वे गन्तव्य स्थान की ओर कहाँ तक साधक को पहुँचा सकती हैं, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पगडण्डियों में चलनेवालों के लिए मार्ग-भ्रम हो जाना कोई कठिन नहीं। संकीर्ण पथ पर कुशल मार्गद्रष्टा सद्गुरु का सदा सामीप्य रहना आवश्यक है; परन्तु यह सर्व-साधारण के लिए कठिन है; अतएव ऐसे लोगों के लिए भय है—भटककर कहाँ किस खाई-खन्दक में गिरें ठिकाना नहीं; इसलिए राजमार्ग का सहारा मनुष्य को नहीं छोड़ना चाहिए।

जीवन का समय स्वल्प है। इस थोड़े काल में जितना अधिक अपने अभीष्ट स्थान की ओर बढ़ सकें, बढ़ चलना चाहिए। साम्प्रदायिकता की खींचातानी में पड़कर अपना पथ-भ्रष्ट कर देना और मनुष्य जीवन का अमूल्य समय जैसे-तैसे करके बिता देना, यह बुद्धिमानी नहीं है। साम्प्रदायिक परि-

च्छिन्न उपासनाओं से वास्तविक कल्याण भी नहीं हो सकता। यदि विष्णु की प्रतिमा में शैव अपने शिव और शाक्त अपनी देवी को नहीं देखते तो वे स्वयं अपने इष्ट की व्यापकता का खण्डन करते हैं। ऐसी परिच्छिन्न भावना से साधक भी अपूर्ण ही रह जाता है।

विभिन्न मत-मतान्तरों में आजकल जो द्वेष और विरोध-सा बढ़ गया है वह अपने इष्ट परमात्मा को व्यापक न मानने का ही परिणाम है।

सभी मतावलम्बी यदि अपने-अपने इष्ट देव को व्यापक देखने लग जायँ, तो कभी किसीसे द्वेष न हो; क्योंकि तब दूसरों के इष्ट में भी अपने ही व्यापक इष्ट का दर्शन होगा; और इससे आपस में सद्भावनाओं का सञ्चार होकर सहज ही विश्व-प्रेम की अखण्ड ज्योति प्रदीप्त हो उठेगी और वास्तविक स्थायी संगठन का सूत्रपात होकर समस्त विश्व स्थायी सुख-शान्ति का आगार बन जायगा।

अन्न-संकट से घबराओ मत; पोषक विश्वम्भर है

[फ़रवरी, सन् १९४६ में जगतीतल के समस्त देशों में अन्न की कमी का प्रश्न ज़ोरों से उठा था और विशेष कर भारतीय समाचार-पत्रों में, निकट भविष्य के भीषण अकाल के रौद्र-रूप का वर्णन किया जा रहा था। जनता इन समाचारों को पढ़कर अकाल-आगमन के पूर्व ही अकाल-ग्रस्त प्रतीत हो रही थी। ऐसे समय में श्रीचरण के निम्न-लिखित २२ फ़रवरी के उपदेश को अनेकों समाचार-पत्रों ने प्रकाशन कर जनता को विशेष आश्वासन और शान्ति प्रदान की थी।]

अन्न की कमी का जो प्रश्न अखबारों में आजकल ज़ोरों से उठा है, उसे पढ़कर आस्तिक जनता को घबराने की आवश्यकता नहीं है। जिसने गर्भ में रक्षा की है वह अब भी रक्षा करेगा। यह कमी का प्रश्न सभी देशों में सुना जाता है। प्रायः देखा गया है कि जब मनुष्य चारों ओर से घिर जाता है तब भी बाहर निकलने का कोई-न-कोई साधन निकल ही आता है।

दैवी चक्र पर विश्वास रखनेवालों को व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं। जिसने उत्पन्न किया है वह विश्वम्भर है। उसे सबकी चिन्ता है। उसीपर विश्वास रखना चाहिए और आनन्द से स्वधर्मानुष्ठान-पूर्वक उसी परम पिता का चिन्तन करते हुए प्रारब्ध-वश जब जो भोग्य सामने आ जाय, उसीमें तृप्त रहना चाहिए। यदि प्रारब्ध की परिसमाप्ति है और भोग्य क्षीण ही हो चुका है तो शरीर अवश्य छूटेगा चाहे उसका निमित्त अकाल ही बने या और कुछ; इसलिए निश्शंक रहना चाहिए। अकाल की शंका से हृदय में दौर्बल्य नहीं आने देना चाहिए।

ऐसे समय में जप, तप, यज्ञ, महायज्ञ, आदि द्वारा ईश्वराधन जितना हो सके अधिक-से-अधिक करना चाहिए; क्योंकि ईश्वराराधन से धर्म की वृद्धि होती है और "धर्मेण पापमपनुदति" धर्म करने से दुष्कृत नष्ट होता है, यह वेद-वाक्य है—सत्य है। वेद एवं धर्मशास्त्र पर जिन्हें विश्वास है, उन्हें भौतिक परिस्थितियों की भयंकरता से घबराने की आवश्यकता नहीं है। विश्वम्भर पर अपने आश्रित जनों के भरण-पोषण का भार है। अपनी ओर से उसके आश्रित हो जाने की आवश्यकता है। आस्तिक जनता को अपने इतिहास-पुराणों का भी ज्ञान है। ऐसे संकट के समय में विश्वम्भर ने कोई-न-कोई निमित्त भरण-पोषण का अवश्य बनाया है; इसलिए अब भी उसीके आश्रित रहने की आवश्यकता है।

सदा भगवान् की गोद में हो

[दिल्ली में होनेवाले ऐतिहासिक 'शतमुख कोटि होमात्मक महायज्ञ' के पश्चात् सन् १९४३ की शिवरात्रि-महोत्सव के समय दिल्ली शिविर, भागीरथ पैलेस, में दिये हुए उपदेश का सारांश]

भगवान् को यदि अपने से दूर माना जायगा तो वे दूरातिदूर हो जायँगे और यदि समीप मानकर उनकी उपासना की जायगी तो वे सदा सन्निकट ही रहेंगे। जिस प्रकार पानी भरनेवाली स्त्री अपने सिर पर और एक हाथ में पानी के घड़े रख लेने पर भी दूसरा हाथ अपने बच्चे को लेने के लिए खाली रखती है और जब उसका बच्चा उसके चरण पकड़कर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है तब वह अपने खाली हाथ से उसे ऊपर उठा लेती है, उसी प्रकार भगवान् समस्त विश्व का कार्य करते हुए अपना एक हाथ अपने भक्त बच्चों को उठा लेने के लिए सदैव खाली रखते हैं। रोते हुए जाकर उनके चरणों में लिपटने की देर है कि वे स्वयं तुम्हें ऊपर उठाकर अपनी गोद में बिठा लेंगे। विश्वास करो और नम्र हृदय से उनसे प्रार्थना करो; वे सदैव तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारे अन्दर ही हैं, कहीं दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है; केवल उपासना का प्रकार समझकर कुछ समय तक कार्य करो; तुम्हें स्वयं अनुभव होने लगेगा कि तुम सर्वदा अनन्त-शक्ति-सम्पन्न, चिदानन्दघन, आनन्द-स्वरूप भगवान् की गोद में हो।

धर्मो रक्षति रक्षितः

[मार्च, सन् १९४९ में एक दिन प्रयाग में दिये हुए श्रीचरण के उपदेश का सारांश]

आर्य-सिद्धांत है कि जो अपने आचरणों द्वारा धर्म की रक्षा में तत्पर रहता है धर्म उसका सर्वविध रक्षण करता है।

धर्म का स्वरूप नियमों द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ की सृष्टि, स्थिति और लय इन्हीं निश्चित नियमों के आधार पर होती है। ऐसा नहीं है कि चाहे जब, चाहे जिस प्रकार, अनिश्चित रूप से उनका विकास हो और चाहे जब अनिश्चित समय में उसका लय हो जाय। समस्त ब्रह्माण्ड की प्रत्येक क्रिया जिन निश्चित नियमों के आधार पर होती है वे नियम अनादि और अनन्त हैं; क्योंकि जिनके द्वारा सृष्टि के सृजन, संवर्द्धन और संहार का नियमन हो उन्हें सादि और सान्त नहीं कहा जा सकता। इन समस्त अनादि-अनन्त नियमों का आधार अथवा कर्णधार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान के अतिरिक्त कोई अल्पज्ञ नहीं हो सकता। इसलिए विश्व व्यवस्थापक इन अनादि-अनन्त नियमों से अभिव्यक्त होनेवाले धर्म का आधार सर्वशक्तिमान परमात्मा ही है। अस्तु, ईश्वरीय विधान ही धर्म है। इस धर्म-रूपी ईश्वरीय विधान का पालन करनेवालों का सर्वविध मंगल और इसकी अवहेलना करनेवालों का पराभव होना स्वाभाविक है। इसीलिए *धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः* — इस सनातन सिद्धान्त पर धर्मप्राण आर्य जाति का विश्वास सदा ही दृढ़ रहा है।

सनातन परमात्मा के धर्म-रूपी इन अनादि अनन्त नियमों का पालन जड़ सृष्टि में और चेतन जगत् की पशुपत्ती आदि भोग-योनियों में स्वभावतः होता रहता है; किन्तु मनुष्य की कर्म-योनि में इनका पालन होना अधिकांशतः पुरुषार्थ कर सकने में स्वतंत्र सत्ताधारी, मनुष्य के ही आश्रित रहता है।

वास्तव में समस्त जड़-चेतन जगत् का धारण-पोषण-संवर्द्धन करनेवाले सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा के इन सनातन समस्त अनन्त नियमों को मनुष्य की अल्पज्ञ बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती; किन्तु अपने (मनुष्य-योनि-विषयक) कल्याण-कारी नियमों का (स्वधर्म का) यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अपना सर्वविध कल्याण सम्पादन तो कर ही सकता है—इसमें सन्देह नहीं।

मंत्र ब्राह्मणात्मक अपौरुषेय वेद इन्हीं समस्त सनातन नियमों का सूत्र रूप से दिग्दर्शन कराते हैं। इन्हीं अपौरुषेय वेदों पर आधारित धर्म-शास्त्र द्वारा इन नियमों का किंचित विस्तृत रूप से प्रकाश होता है। धर्मशास्त्र में मनुष्य-समाज की अभ्युन्नति के लिए प्रधानतः साधारण धर्म और असाधारण या विशेष धर्म का उल्लेख है।

साधारण धर्म के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना) आदि ऐसे नियमों का समावेश है जो समस्त देशों के मनुष्यों के लिए सर्वकाल में समान रूप से सर्वविध कल्याणकारी है, और विशेष धर्म के अन्तर्गत उन नियमों का वर्णन है जो देश-काल-पात्र के अनुसार अनुष्ठेय और कल्याणप्रद है।

विशेष धर्म के विस्तृत क्षेत्र में हिन्दू-जाति के लिए वर्णाश्रम-धर्म कल्याणप्रद बतलाया गया है। इस वर्णाश्रम-

धर्म का पालन करने से ही भारतीयों का सर्वविध कल्याण और इसकी अवहेलना करने से अमङ्गल ही होगा। किसी अन्य देश के निवासियों की सभ्यता-संस्कृति के बाह्य चाकचिक्य से विमोहित होकर अपौरुषेय वेद पर आधारित सर्वोत्कृष्ट और सनातन, सामाजिक-व्यवस्था के वर्ण-धर्म एवं आश्रम-धर्म की अवहेलना करना हिन्दू-सभ्यता-संस्कृति के विनाश और राष्ट्र के भावी अमङ्गल का द्योतक है।

वर्तमान भारत दीनता, दरिद्रता, परतन्त्रता, आदि व्याधियों से पीड़ित है। उसका कारण यही है कि वर्णाश्रम-धर्म के पालन में शिथिलता आ गई है।

अधिकांशतः ब्राह्मण शान्ति, सन्तोष, तप, और तेज से युक्त सच्चे ब्राह्मण नहीं रहे; क्षत्रिय ओजपूर्ण, क्षात्र-तेज-सम्पन्न, बलिष्ठ, सच्चे क्षत्रिय नहीं रहे; वैश्य सच्चे वैश्य नहीं रहे; और अब शूद्र भी अपने आश्रम से च्युत होकर पाश्चात्य सभ्यता के शिकार बन अपने शास्त्रोक्त कर्मों पर अश्रद्धा करने लग गये हैं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो रही है और आश्रम-धर्म भी कुण्ठित हो रहा है। ब्रह्मचर्य-आश्रम जो मनुष्य-जीवन के शेष आश्रमों का दृढ़ आधार था, कुशिक्षा के प्रभाव से लुप्त हो रहा है। यही कारण है कि समाज में मनुष्यों में तेज और ओज की कमी होने के कारण लोग निर्बल और अशक्त हो रहे हैं। इस प्रकार वर्ण धर्म और आश्रम-धर्मों की अवहेलना के परिणाम-स्वरूप ही राष्ट्र निस्तेज और निर्बल हो रहा है। बुद्धिमान् मनुष्य धर्म-शास्त्र का अवलोकन कर उसके वास्तविक रहस्य को समझकर यदि निष्पक्ष भाव से विचार करे, तो उसे अवश्य निश्चय हो जायगा कि धर्म-नियंत्रित चार वर्ण और चार आश्रमों की सुसंगठित

व्यवस्था से ही भारतीय समाज एवं राष्ट्र का सर्वविध कल्याण सम्पादन हो सकता है।

स्वधर्म-पालन से ही मनुष्य का उत्कर्ष होता है—यह सनातन सिद्धान्त है। भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है—*स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः*—स्वधर्म पालन करते हुए मर जाना भी श्रेयस्कर है और दूसरे का धर्म अपने लिए (सदा पतन का हेतु होने के कारण) भयावह होता है। स्वधर्म और परधर्म का बोध करानेवाला शास्त्र ही है; इसलिए भगवान् ने कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

जो मनुष्य शास्त्र-विधान को त्यागकर अपनी इच्छा से वर्तता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न उसे सुख मिलता है और न उसकी परम गति होती है। इसलिए, हे अर्जुन! कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर शास्त्र-विधि से नियत किये हुए कर्म को ही करना चाहिए। धर्म-शास्त्र-विधान ही धर्म का प्रत्यक्ष स्वरूप है; इसीलिए कहा गया है कि शास्त्र विधानोक्त स्वधर्म की अवहेलना करनेवाले ही पतन को प्राप्त होते हैं और उसका पालन करनेवालों की सर्वविध सुरक्षा और कल्याण होता है।

जब से चेते तब से सही

[प्रयाग में दिये हुए श्रीचरण के एक दिन के उपदेश का सारांश]

आजकल लोग प्रायः अन्ध-विश्वास करना अपनी मूर्खता समझते हैं, प्रधानतः परमार्थ-मार्ग में; परन्तु यदि देखा जाय तो संसार के प्रायः समस्त कार्य अन्ध-विश्वास पर ही चल रहे हैं और अन्ध-विश्वास ही समस्त लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान का आधार है।

शिक्षक जब विद्यार्थी को वर्णमाला का बोध कराते हुए कहता है कि अमुक-आकार का अक्षर 'क' है और अमुक 'ख', तब उस समय विद्यार्थी को वैसा मान ही लेना पड़ता है। यदि वह वहीं तर्क करे कि क्या प्रमाण है कि 'क' का यही आकार है, और विश्वास न करे, तब तो वह निरक्षर ही रह जायगा। शिक्षक के वाक्य को प्रमाण मानकर ही जब वह आगे बढ़ेगा तभी विद्वान् हो सकता है। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो मालूम होता है कि समस्त ज्ञान और व्यवहार अन्ध-विश्वास पर ही निर्भर है।

परमार्थ-मार्ग में भी वही दशा है। गुरु-वाक्य पर विश्वास करके ही अभ्यास किया जा सकता है। बिना अन्ध-विश्वास किये परमार्थ-मार्ग में भी कुछ उन्नति नहीं की जा सकती। जब मनुष्य कुछ अभ्यास करने लगता है तब तो उसे स्वयं ही अनुभव होने लगता है और तब उसका स्वतः का अनुभव ही उसके आगे के मार्ग के लिए प्रमाण हो जाता है; परन्तु प्रारम्भ में गुरु-वाक्य ही प्रमाण मानना पड़ता है। गुरु बनाते समय

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे स्वयं परमार्थ-मार्ग में अनुभवी और शास्त्र के ज्ञाता हों; क्योंकि जिनके हाथ में अपने कल्याण की बागडोर सौंपना है, उन्हें हर प्रकार से सम्पन्न ही होना चाहिए। वे स्वयं अनुभवी होंगे तो शिष्य को यथार्थ अनुभव करा सकेंगे और शास्त्र-ज्ञाता होंगे तो उसकी शंकाओं का उचित समाधान देकर उसे उपासना में दृढ़ निष्ठा करा सकेंगे।

× × × ×

जो लोग किन्हीं कारणों से यह समझने लग गये हैं कि वे पथ-भ्रष्ट हैं उन्हें सर्वथा निराश नहीं होना चाहिए, यह नहीं समझना चाहिए कि वे सन्मार्ग पर आ ही नहीं सकते अथवा उनका सुधार हो ही नहीं सकता। मनुष्य-जीवन बहुत अमूल्य है। इसका एक-एक क्षण इतना अधिक मूल्यवान् है कि उसका अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। इतने मूल्यवान समय को अपने मनमाने सिद्धान्त बनाकर व्यर्थ खोते जाना बहुत बड़ी भूल है। लोगों को चाहिए कि जिस समय से उन्हें यह प्रतीत हो कि सम्भवतः वे सन्मार्ग पर नहीं हैं, उसी समय से सत्पथ पर आरूढ़ होने के प्रयत्न में लग जाना चाहिए और सद्गुरु की खोज करके उनसे उपासना का ठीक प्रकार समझकर भगवान की उपासना यथाशीघ्र प्रारम्भ कर देना चाहिए। जो लोग भगवत्प्राप्ति के मार्ग में नहीं लगे हैं उन्हें अपने को सन्मार्गगामी नहीं मानना चाहिए।

उपासना प्रारम्भ कर देने से दुष्कृत शान्त होने लगते हैं और असत् वासनाएँ कम होकर धीरे-धीरे मानसिक पवित्रता बढ़ती जाती है और वही मनुष्य कुछ ही समय में अच्छा

सतोगुणी बन जाता है; किन्तु यह आवश्यक है कि समय व्यर्थ न जाने दिया जाय। जो जिस अवस्था में हैं शीघ्रातिशीघ्र उपासना में प्रवृत्त हो जायँ; किन्तु मनमुखी जप, पाठ आदि करने से या अपने मनगढ़न्त सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर-प्रार्थना, कीर्तन आदि करने से वास्तविक लाभ नहीं होता। किसी अनुभवी गुरु से प्रकार सीखकर वही कार्य करने से विशेष उन्नति होती है।

विशेष महत्त्व की बात यही है कि जो जिस अवस्था में ही उसी अवस्था से अपने परलोक का मार्ग उज्ज्वल करने में लग जाय। जीवन का कुछ निश्चय नहीं, कब साँस बन्द हो जाय। मनुष्य-जन्म सफल करने का यही एक प्रकार है कि प्राण रहते अधिक-से-अधिक पारमार्थिक अनुभव प्राप्त कर लिया जाय और उसके लिए यही एक उपाय है कि शीघ्रातिशीघ्र मनुष्य उचित उपासना में प्रवृत्त हो जाय।

तत्त्व-प्राप्ति में आहार-शुद्धि

[इटावा में एक दिन एक विरक्त महात्मा ने आकर पूछा—"भगवन् ! बहुत-कुछ प्रयत्न करने पर भी तत्त्व की प्राप्ति न होने का क्या कारण है ?" समाधान में श्रीचरण ने कहा—]

इसका कारण यही है कि साधन की कमी है। तत्त्व को जानना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय है। उसके लिए तो साधन भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होना चाहिए। तत्त्व तक पहुँचना ही अपने को पराकाष्ठा तक ले जाना है। उस पराकाष्ठा तक मनुष्य इसलिए नहीं पहुँच पाता कि साधन-हीन होने के कारण साध्य की उपासना ठीक प्रकार से नहीं होती।

वैसे तो जो वस्तु साध्य है (अर्थात् आत्मा) वह तो सिद्ध ही है। साधना और उपासना से उसका (आत्मा का) कुछ नहीं बनता; इनके (साधनों के द्वारा साधक) ही उसको समझने की योग्यता प्राप्त करता है; इसलिए इनकी आवश्यकता है।

जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के कारण अन्तःकरण इतना मलिन हो गया है कि मनुष्य को एकाएक तत्त्व-बोध नहीं हो सकता। किसी महात्मा का विशेष अनुग्रह हो जाय तो दूसरी बात है; पर साधारणतया सोपान (सीढ़ी) से ही एक-एक कदम चढ़ते हुए क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है—सोपान है साधन।

अधिकारी-भेद से साधन-क्रम में भेद होता है। इसे सद्गुरु लोग साधन की बुद्धि, अवस्था, देश, कालादि का विचार करके निर्धारित करते हैं। किसीके लिए नौ भूमिकाएँ

नवधा भक्ति की लाभदायक हैं और किसीके लिए नौ का पर्यवसान तीन में ही हो जाता है—*श्रवणं तु गुरो पूर्वं मननं तदनन्तरं, निदिध्यासनमित्याहुः पूर्णबोधस्य कारणम्*—पहले तो श्रवण ही होना चाहिए। अपने संशय की निवृत्ति तो सद्गुरुओं के वाक्यों को श्रवण करने से ही होती है। फिर, जो सुना है उसपर मनन करना चाहिए और फिर निदिध्यासन करना चाहिए, अर्थात् मनन किये हुए को कार्यरूप में परिणत करने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः चलकर अन्त में तत्त्वमसि का विचार करना तत्त्व-साधन है। इस प्रकार मनुष्य श्रवण और मनन की प्रारम्भिक भूमिकाओं को पार करता हुआ तत्त्व-बोध का अधिकारी होता है।

आजकल जब श्रवण ही ठीक नहीं किया जाता तो मनन कैसे ठीक हो सकता है और मनन ठीक न होने से निदिध्यासन किसपर किया जायगा। निदिध्यासन उपयुक्त और पर्याप्त न होने से तत्त्वमसि के विचार का (जो निदि-ध्यासन का अन्तिम पाद है उसका) अधिकारी ही कैसे हो सकता है? और, बिना अधिकारी हुए तत्त्व-प्राप्ति कैसे होगी?

साधन के लिए सबसे पहले उपनिषदों में आहार-शुद्धि लिखी है; क्योंकि आहार से मन का अभेद सम्बन्ध है। देहाती कहावत भी है—जैसा खावे अन तैसा उपजै मन। आजकल मुख्य रूप से आहार ही बिगड़ा हुआ है, तो तत्त्व-दर्शन कैसे हो? मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि किसीको भोजन भी करायेगा तो किसी वासना को लेकर ही। एक बार पंजाब में एक संन्यासी किसीके घर पर भिक्षा के लिए गये। स्त्री ने दो रोटी लाकर दीं; पर देने के पहले उसने अपने बीमार पुत्र पर

तीन बार उतारकर तब दिया। संन्यासी ने कहा—"माई ! ये भैंस द्वार पर बँधी है इसके ऊपर और फेर दे।"

कहने का तात्पर्य यह कि उस संन्यासी को कितना अशुद्ध आहार दिया जा रहा है। जब आहार ठीक नहीं तब साधना भी ठीक नहीं हो सकती। साधना द्वारा जिस मन को शुद्ध करना है उसीको अशुद्ध आहार द्वारा और अशुद्ध बनाया जाय तो उसकी शुद्धि कैसे हो सकती है।

अन्न की शुद्धि केवल उसे धोने-पोछने से नहीं होती। चाँवल धो लेने मात्र से शुद्ध नहीं कहा जा सकता। देखना पड़ेगा कि चाँवल किस साधन से आया है—यदि अजन (प्राप्ति) का प्रकार शास्त्रोक्त है तब तो चाँवल शुद्ध है और यदि चोरी-डाके से, अवैध प्रकार से, प्राप्त किया गया है तो वह सदा अशुद्ध रहेगा। उसके भोजन से अन्तःकरण और भी मलिन हो जायगा। अतः शुद्धि-अशुद्धि का विचार करते समय यह देखना पड़ता है कि वस्तु कहाँ से आई और किन उपायों द्वारा प्राप्त की गई। अन्न की शुद्धता के साथ-साथ साधक में शम, दम, आदि साधन-सम्पत्ति और सद्गुरु की प्राप्ति और उनमें अटल श्रद्धा होने से तत्त्व-बोध कोई कठिन नहीं है। जिसे भी तत्त्व की प्राप्ति हुई है, इसी मार्ग से हुई है। ये समस्त साधन जिन्हें प्राप्त हैं उन्हें आज भी तत्त्व-प्राप्ति हो रही है।

विषयी का सङ्ग विषय से अधिक भयावह है

[यह और अग्रिम उपदेश इटावा में दिये हुए श्रीचरण के एक ही दिन के उपदेश हैं]

वातावरण का प्रभाव मनुष्य पर बहुत पड़ता है। संसर्ग से ही दोष और गुण उत्पन्न होते हैं। विषयों का सम्बन्ध तो सदा ही त्याज्य है; किन्तु साक्षात् विषय उतना बाधक नहीं है जितना विषयी का सदा संसर्ग। विषय का सम्बन्ध एक बार होने से फिर उसके परिणाम में ध्यान देने पर मनुष्य उसे भविष्य में त्याग सकता है; परन्तु यदि विषयी का सम्बन्ध हो जाय तब तो सुधार की आशा अधिक नहीं। विषय तो साक्षात् अग्नि है; पर विषयी लोग अग्नि के सान्निध्य में रखे हुए चिमटे के समान हैं। अङ्गार को हाथ से उठाकर जल्दी से किसी दूसरे स्थान पर रख सकते हो। हाथ क्षणिक सम्पर्क से नहीं जलेगा; परन्तु तप्त चिमटे को छूते ही फफोला पड़ जायगा। इसी प्रकार साक्षात् विषय-रूपी अग्नि का सम्बन्ध उतना भयावह नहीं होता, जितना विषयी का संसर्ग।

सूर्य की साक्षात् किरणों का सम्बन्ध उतना कष्टदायी नहीं होता जितना उनसे उत्तप्त बालुका का स्पर्श। इसलिए विषय का सम्पर्क तो बचाना ही चाहिए; किन्तु विषयी लोगों का संसर्ग न हो—इसके लिए अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

व्यवहार में यदि विषयी मनुष्यों का सम्बन्ध कहीं अनिवार्य ही हो जाय, तो उनसे उतना ही सम्बन्ध रखना चाहिए जितना पुरीषालय से रखा जाता है। आवश्यकता पड़ने

पर सबको पाखाने में जाना ही पड़ता है; परन्तु वहाँ अधिक नहीं ठहरते। कार्य किया और वापिस हुए। इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर कार्य निकाल लेना चाहिए; परन्तु इसके लिए सदैव सावधान रहना चाहिए। ऐसे लोगों के पास अधिक समय न बीते, नहीं तो कोई कितना भी बुद्धिमान् हो संसर्ग का प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ ही जाता है।

वर्णाश्रम-धर्म में जो स्पृश्यास्पृश्य का इतना अधिक विवेक रखा जाता है, उसका कारण यही है कि कहीं तमोगुण या रजोगुण-प्रधान वातावरण के दूषित प्रभाव के संक्रमण से सत्त्व-प्रधान वातावरण दूषित न हो जाय; इसलिए विषयी, पामर और कुत्सित भावना-वाले मनुष्यों के संसर्ग से अपने को बचाये रखना और वर्णाश्रमोचित स्पृश्यास्पृश्य का पूर्ण विचार अपने आहार-व्यवहार में रखना आत्मोन्नतिशील प्राणी के लिए परम आवश्यक है।

सत्सङ्ग की आवश्यकता

[पूर्वोपदेश का शेषांश]

एक ओर विषय और अपवित्र संसर्ग से बचो और दूसरी ओर अच्छे लोगों का संसर्ग बढ़ाओ। सत्सङ्ग का प्रभाव अच्छा होता है। लिखा है *सतां संगो हि भेषजम्* – सत्पुरुषों का साथ भव-भेषज है, अर्थात् संसार में आवागमन-रूपी महा दुःखदायी रोग की ओषधि है। सत्संग से सतोगुण की वृद्धि होती है और *सत्वात्संजायते ज्ञानम्।* सतोगुण से ज्ञान की प्राप्ति होती है, और *ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति*, ज्ञान से परम शान्ति—मोक्ष—की प्राप्ति होती है; इसलिए मोक्ष के लिए सत्संग परम उपयोगी है। इससे मन का कार्पण्य (संकीर्णता) निकल जाता है। कार्पण्य निकल जाने से वस्तु के ग्रहण करने की क्षमता आती है।

सत्संग से भक्ति का पौधा सिंचता रहता है। कितना ही उत्तम पौधा लगाया जाय; पर यदि उसमें खाद न दी जाय और सिंचाई न हो, तो वह अवश्य धीरे-धीरे सूख जायगा। इसी प्रकार कितना ही उच्चतम भक्ति का प्रकार हो, किसी प्रकार की साधना हो, साधक के लिए सत्संग उपासनारूपी वृक्ष में खाद और सिंचाई का काम करता है। उससे उसकी अपने मार्ग में निष्ठा दिनोंदिन पुष्ट होती जाती है।

सत्संग से रजोगुण दबकर सत्व का उदय होता है। रजोगुण रहने से चित्त में स्थिरता नहीं आने पाती और इस प्रकार अव्यवस्थित चित्त कुछ नहीं कर सकता। चित्त की अव्यवस्था में विवेक नष्ट हो जाता है; यहाँ तक कि लोग ईश्वर

को अन्धा बना देते हैं। सांसारिक श्मशानी जीवों की दृष्टि बचाने की तो चेष्टा करते हैं; परन्तु यह नहीं सोचते कि व्यापक सर्वद्रष्टा परमात्मा तो देख ही रहा है। संसार तो कज्जल की कोठरी है; इसमें कोई भी कालिमा से अछूता नहीं बचा। सभी प्रायः एकसे हैं; इसलिए यदि संसार कुछ भली-बुरी बात जान भी ले तो क्या करेगा ? किन्तु, अविवेक के कारण लोग दुष्कर्मों में लोक की दृष्टि बचाकर यह विचार करते हैं कि कोई नहीं जानता। यही अपने अन्तर्यामी इष्ट को अन्धा बनाना है। परमात्मा से कुछ छिपाया नहीं जा सकता। उसे सब दृश्य-अदृश्यमान-जगत् करामलक-सा प्रत्यक्ष रहता है; क्योंकि वह व्यापक है।

जो लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं उनकी तो कोई बात नहीं; पर जो मानते हैं उनको परमात्मा का अस्तित्व व्यापक ही मानना पड़ेगा। जो ईश्वर-मन्दिर में है वही पुरीषालय में भी है। यदि पुरीषालय में नहीं है तो मन्दिर में ही है—इसका क्या प्रमाण ? यह तो ठीक है कि पूजन मन्दिर में ही किया जायगा, पुरीषालय में नहीं; परन्तु पूजन एकदेशीय होने के कारण परमात्मा एकदेशीय नहीं हो सकता, वह तो व्यापक ही है और व्यापक होने के कारण सभीके समस्त व्यवहारों से परिचित है; इसलिए अपनी ओर से परमात्मा के समक्ष सदैव नग्न रहना चाहिए। अर्थात् दो-चार संसारी मनुष्यों की आँख बचाकर यह न सोचना चाहिए कि किसीने नहीं देखा। ऐसी भावना से अपने अन्तःकरण में दुर्बलता आती है। यदि बालक माता के सामने नग्न रहता है तो वह उसके शरीर की धूलि साफ़ कर देती है और यदि वह अपना गन्दापन छिपाये रहे, तो माता की दृष्टि ही उसपर नहीं जाती; इसलिए अपनी ओर से परमात्मा के

सम्मुख सदा नग्न-हृदय रहने से परमात्मा सब दुर्गुण हटाकर स्वयं सत्पथ पर आरूढ़ करा देता है; परन्तु इन सबका वास्तविक ज्ञान बिना सत्संग के नहीं होता; इसलिए मनुष्यों को सत्संग यथासाध्यअधिक-से-अधिक करना चाहिए और अपने परमार्थ-मार्ग को सदा उज्ज्वल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

दैवी और आसुरी प्रवृत्ति

[सं० २००२ की होली के कुछ पूर्व २० फ़रवरी, सन् १९४६ को प्रयाग में दिये गये श्रीचरण के उपदेश का सारांश]

दैवी प्रकृति के विकास के साथ मनुष्य का दैवी विकास और उससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। आसुरी प्रकृति के विकास के साथ आसुरी विकास और उससे लोक में अशान्ति और अन्त में निरय (नरक) की प्राप्ति होती है।

आसुरी प्रकृति के विकास के समय कहीं-कहीं जो लौकिक उत्कर्ष-सा दृष्टिगोचर होता है वह भूतपूर्व दैवी-प्रकृति-प्रेरित कर्मों का ही परिणाम है। आसुरी विकास तो सदा पराभव और नाश का ही कारण बनता है; यही सनातन सिद्धान्त है। रावण, हिरण्यकश्यपु आदि के कितने ही ऐसे उदाहरणों से प्राचीन भारतीय इतिहास इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष अनुभव कर चुका है। वर्तमान संसार भी ऐसे ही समय का अनुभव कर रहा है; किन्तु घटनाचक्र में पड़े हुए उसे इसका यथार्थ बोध नहीं हो रहा है।

मनुष्य-जीवन के परम शान्तिमय परमोत्कृष्ट लक्ष्य 'भगवत्प्राप्ति' को भूलकर अमानुषिक आसुरी प्रवृत्तियों के वशीभूत हो उदर-पूर्ति को ही परम लक्ष्य मान बैठना और उसके लिए धर्माधर्म-विवेक-शून्य होकर स्वेच्छाचरण-रत होना आसुरी प्रकृति के विकास का ही परिणाम है।

वर्तमान जगत् परमार्थ और शास्त्रानुमोदित स्वधर्माचरण पर धूल झोंककर स्वेच्छाचरण द्वारा मनमुखी उपायों से ही सुख-शान्ति की प्राप्ति करना चाहता है। यही आसुरी सम्पदा के विकाश का प्रत्यक्ष लक्षण है। इसे आज मनुष्य समझे या न समझे अथवा समझकर माने या न माने; किन्तु इस प्रकार की आसुरी प्रवृत्ति का परिणाम तो प्रत्यक्ष उपस्थित हो ही चुका है कि वर्षों के अनन्त दुःख-मय भीषण नर-संहार के पश्चात् विश्व-व्यापी भावी अन्न-संकट का हाहाकार उपस्थित है।

इस धर्म-मंच पर से हम मनुष्य-समाज को सचेत कर देना चाहते हैं कि यदि सब प्रकार से मङ्गलमय जीवन चाहते हो तो आसुरी प्रवृत्तियों का अवरोध कर शास्त्र-सम्मत स्वधर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति बढ़ाओ और भगवत्शरणागति का अवलम्ब लेकर इस भीषण समय में अपनी रक्षा करो।

होली का समय आ रहा है। समस्त देश में प्रचण्ड ज्वालाओं को प्रकट कर उस दिव्य काल का स्मरण किया जायगा जबकि दैवी-सम्पत्ति-पूर्ण प्रह्लाद को नष्ट करने के लिए उद्यत हुई आसुरी-सम्पत्ति-पूर्ण होलिका अपने ही प्रयत्नों के परिणाम में भस्मीभूत हुई थी। आज भी मानवीय हृदयों के दैवी-प्रवृत्ति-रूपी प्रह्लाद को आसुरी-प्रवृत्ति-रूपी होलिका ने अपने अंक में सर्वथा ढँक लिया है।

आवश्यकता इस बात की है कि होली की बहिर्ज्वालाओं में प्राचीन स्मृति जागरण के साथ-साथ प्रत्येक हिन्दू नर-नारी शास्त्र-विहित स्वधर्माचरण-रूपी प्रचंड अग्नि द्वारा धर्म-ज्वालाओं को प्रज्वलित कर अपने हृदय में स्वेच्छाचरणोत्पादक आसुरी

प्रवृत्तियों की होली जलाएँ। इस प्रकार अन्तर्बहिः होली का सामञ्जस्य कर इस त्योहार की सार्थकता सिद्ध करते हुए उन्हें अपना परम कल्याण-पथ उज्ज्वल करना चाहिए।

[इति श्रीशंकराचार्य-वाक्सुधा, प्रथम भाग]

जय प्रभो !

ज्योतिर्मठो मठानाञ्च वनानां बदरीवनम् ।
जगद्गुरूणाञ्च गुरुर्ब्रह्मानन्द सरस्वती ॥